भवन्स नवनीत

जून 2020

30 रुपये

समय ... साहित्य ... संस्कृति ...

कोरोना और आदमी

आत्मसाक्षात्कार की घड़ी

इतिहास, प्रगति और विकास के विषय में जो आधुनिक विचार हमारे मन में घर कर बैठे हैं, उन्होंने हमें राष्ट्रों के बल और विकास को मापने के गलत गज दिये हैं. हमें सिखाया गया है कि प्रगति और विकास का माप-तौल करना– काल की तराजू की छोटी-सी डंडियों द्वारा, भौतिक सम्पत्ति के प्रमाण द्वारा, मानव-संहार की कला पर प्राप्त किये हुए अल्पकालीन प्रभुत्व की कसौटी द्वारा. परंतु जब हम छोटे-से गज और अल्प-से समय के उस पार नज़र डालकर काल की लम्बी-वीथियों की ओर देखते हैं तब हमारा अटल विश्वास हो जाता है कि राष्ट्रों के यौवन और बल को नापने के लिए हमने संकुचित दृष्टि की जो कसौटी बनायी है उसमें परिवर्तन किये बिना हमारा निस्तार नहीं.

मानव जाति आत्मसाक्षात्कार की ओर कदम बढ़ा रही है. इस बीच उसकी सम्पत्ति में अमुक राष्ट्र ने ज्ञान, सौंदर्य और संस्कार का कितना योग दिया, विद्वेष और विनाश करने वाले बलों से लड़कर उन्हें हराने में इस राष्ट्र ने कितना सामर्थ्य, कितनी दृढ़ता प्रदर्शित की, और मनुष्य को उसके उच्चतर ध्येय की सिद्धि के लिए कितना समर्थ बनाया, यह सब देख-परख कर ही यह निर्णय हो सकता है कि विश्व-इतिहास में यह राष्ट्र कितना महत्व रखता है.

(कुलपति के.एम. मुनशी भारतीय विद्या भवन के संस्थापक थे)
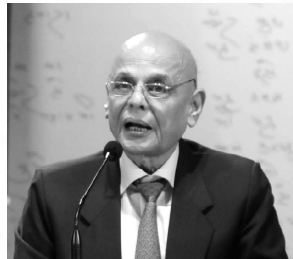
भारतीय इतिहास : पुनरावलोकन और भविष्य

हजारों वर्षों के लम्बे इतिहास के दौरान भारत कई राजनीतिक चरणों से गुजरा है. समय के बहाव में भी इसने अपनी संस्कृति और सभ्यता को संरक्षित रखा. जबकि अन्य कई सभ्यताएं समाप्त हो गयी और अब केवल उनके अवशेष संग्रहालयों में संरक्षित हैं. एकमात्र प्राचीन सभ्यता वाला देश होने पर भी भारत की सभ्यता आज दुनिया के किसी भी प्रगतिशील लोगों के समान नयी है. मध्य एशियाई बर्बर देश, फारसियों और यूरोपियों सहित विदेशियों का क्रमिक अंतर्ग्रहण भी भारत की उस नींव को हिलाने में विफल रहा, जिस पर इसकी प्राचीन सभ्यता टिकी हुई है. वे या तो पूरी तरह से देश की सामाजिक-धार्मिक संरचना में घुल मिल गये या भारतीय संस्कृति से जुड़ गये.

इस संस्कृति की दो महत्वपूर्ण विशेषताएं विविधता में एकता और विभिन्न दर्शनों को ग्रहण करने की इसकी क्षमता थी. इससे भारतीय जनभावना को आस्था और बल मिला, अनंत विविधताओं के साथ ही इनमें मौलिक एकता भी है जो उन्हें अग्रसर करती जाती है.

भारतीय संस्कृति ने अपने बल और प्राणशक्ति को अब तक बनाये रखा है. ब्रिटिश शासन के कारण पश्चिम से भारत का सम्बंध, इसके वास्तविक मूल्यों के आकलन में सहायक सिद्ध हुआ. मैक्स मुलर ने 1882 की शुरूआत में कहा था– 'मानव मन के विशेष अध्ययन के लिए– चाहे वह भाषा हो या धर्म, पौराणिक

कथाएं हों या दर्शन, कानून हो या रीति-रिवाज, सबके लिए आपको भारत जाना ही होगा, चाहे आप इसे पसंद करें या न करें, क्योंकि मनुष्य के इतिहास की कुछ सबसे मूल्यवान और शिक्षाप्रद सामग्री भारत में; और केवल भारत में ही संचित है.'

प्रसिद्ध इतिहासकार विल ड्यूरां ने कहा था कि हिंदुओं का प्राचीन भारत उस सब का स्रोत है जो सभ्यता की दुनिया में उदात्त है. पश्चिम ने भारत की खोज की, लेकिन बहुत देर से भी नहीं. पश्चिम से सम्बंध के कारण ही भारत के सांस्कृतिक मूल्यों का उचित मूल्यांकन हो पाया, और पश्चिमी विद्वानों द्वारा न केवल भारत के इतिहास और संस्कृति में, बल्कि भारत के बाहर, भारतीय संस्कृति के विस्तार और अनुसंधान की भी पहल की गयी. इसका दूसरा चरण भी उतना ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसने एशियाई एकता और एकजुटता की अवधारणा को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया.

स्वतंत्रता के बाद सात दशक से अधिक समय बीत चुका है.

हमने देश के कल्याण के लिए अपने संसाधनों का सदुपयोग किया. यात्रा लंबी, कार्य कठिन और असंख्य बाधाएं अब भी राह में हैं. विघटनकारी प्रवृत्तियां व्यापक रूप से सक्रिय हैं, जबकि इच्छुक शक्तियां स्थिर प्रगति नहीं कर पाती, क्योंकि राजनीतिक संतुलन बिगड़ जाता है. क्या उफान भरे समुद्र से कोई जहाज निर्विघ्न यात्रा कर सकता है? उत्तर है– हां.

भारतीय इतिहास की सीख है, कि हमें इस बात का एहसास होना चाहिए कि हमारी संस्कृति में सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना का कोई स्थान नहीं है. इस यात्रा में हमारी आस्था, दृढ़ संकल्प और समृद्ध भारतीय सभ्यता, हमें सुरक्षित गंतव्य तक पहुंचाएगी.

सुरेन्द्र लाल मेहता

(सुरेंद्रलाल जी. मेहता)

भारतीय विद्या भवन के अध्यक्ष

भवन्स
नवनीत

समय... साहित्य... संस्कृति...

68 वर्षों की समृद्ध परम्परा की अगली कड़ी

वर्ष : 5 अंक : 10 ● जून 2020

सम्पादकीय कार्यालय

भारतीय विद्या भवन

क.मा. मुनशी मार्ग, चौपाटी, मुंबई 400007

फ़ोन : 022-23634462/ 1261/ 1554

फ़ैक्स : 022-23630058

प्रसार विभाग : 022-23514466/23530916

ई-मेल : navneet.hindi@gmail.com

bhavansnavneet@gmail.com

एक नज़र

आवरण-कथा

कथा

कविताएं

समाचार

पाठकनामा

अप्रैल के अंक में हमारे संविधान के शिल्पी बाबासाहेब आम्बेडकर के सम्बंध में दी गयी विशेष सामग्री महत्वपूर्ण है. बाबासाहेब के जीवन से जुड़े अनेक विषयों के साथ उनकी पत्रकारिता को जोड़कर आपने एक नया आयाम दे दिया है. यह डॉ. आम्बेडकर के वैविध्यपूर्ण जीवन का एक लगभग उपेक्षित अध्याय है. आज के पत्रकारों को उनसे यह सीखना चाहिए कि ईमानदार पत्रकारिता किस तरह समाज के बदलाव का माध्यम बन सकती है.

● अनुरंजन गोस्वामी, लखनऊ

सूर्यबाला, आमिर अजीज़ और संध्या यादव की कविताएं (मार्च अंक) बहुत अच्छी लगीं. राजम पिल्लै और राममनोहर लोहिया के लेख भारतीय नारी की स्थिति और मन:स्थिति को उजागर करने वाले हैं. द्रौपदी बनाम सावित्री की इस बहस को आगे तक बढ़ाया जाना चाहिए.

● पारमिता वर्मा, पटना

'नवनीत' का सम्पादकीय गागर में सागर वाली बात सिद्ध करने वाला होता है. मई के अंक में बुद्धत्व को शांति की खोज का संदर्भ देकर विषय का एक नया आयाम सामने रख दिया गया है. आवरण कथा वाले रमेश जोशी और जवाहरलाल नेहरू वाले लेख अच्छे लगे. ओशो को तो अच्छा होना ही होता है.

● अनामिका मिश्रा, इंदौर

अप्रैल के 'नवनीत' में डॉ. आम्बेडकर के अवदान के बारे में बहुत अच्छी सामग्री है. सच बात तो यह है कि हमने आम्बेडकर को देश के संविधान तक ही सीमित कर दिया है. निस्संदेह उनका यह काम सर्वोच्च महत्ता का है, पर अपने कृतित्व और व्यक्तित्व से उन्होंने मानव-समाज को जो दिया है, वह आने वाले युगों तक धरोहर के रूप में याद किया जायेगा.

● धर्मेंद्र वाघमारे, मुम्बई

मई का 'नवनीत' इंटरनेट पर ही पढ़ना पड़ा. 'अध्यक्षीय' में ब्रह्मांड की रचना को लेकर की गयी छोटी-सी टिप्पणी बड़ी और महत्वपूर्ण बात है. इस पर 'नवनीत' में विस्तृत चर्चा होनी चाहिए. ऐसे विषयों पर 'नवनीत' में ही कुछ छप सकता है. मस्तिष्क में उत्पन्न तरंगों को पूरे ब्रह्मांड में फैलने वाली बात हमारी आज की

दुनिया के सोच को प्रभावित करने जैसी है. लेखक को साधुवाद.

● विनय श्रीवास्तव, दिल्ली

'दरवाज़ा तो खोलो'– पहली सीढ़ी में प्रकाशित यह कविता बहुत अच्छी लगी. हवा के झोंके के आर-पार होने की कल्पना ही एक शीतलता दे जाती है. सोच में जमे कोहरे को छंटने वाली बात उस आशा और विश्वास को उजागर करती है जो आज के जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है.

● आशीष शर्मा, जयपुर

बुद्ध के दर्शन और भागवत के संदेश की गहन मीमांसा करता हुआ आपका अग्रलेख देखा जाए तो समग्रता में मानवता के कल्याण की ही अभ्यर्थना है. दरअसल हमारा समूचा वैदिक और उत्तरवैदिक चिंतन जिसमें पौराणिकता को भी शामिल किया जा सकता है, बहुत गहरे में मनुष्यता के हितों का ही पोषक है. पर बाद के दिनों में अति बौद्धिकता के चलते बहुत सारा वैचारिक स्खलन हुआ उससे अनेक भ्रम भी पैदा हुए हैं. इसी अंक में एडविन अरनाल्डो का आलेख भी बहुत विचार परक है जो इस दौर की लौकिक विपदाओं के बीच बुद्ध की प्रासंगिकता को बहुत गहराई से रेखांकित करता है. ओशो ने तथागत पर शृंखलाबद्ध ढंग से अपनी बात रखी है, और विस्तार पूर्वक भी. इस अंक में बलराम की कहानी, रुचि भल्ला की डायरी, अशोक वाजपेयी की कविता तथा मनोहर श्याम जी का व्यंग्य रुचिकर है.

● कैलाश मंडलेकर, खंडवा (म.प्र.)

।।आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:।।

बीज

मैं बीज होना चाहता हूं

गहरे, बहुत गहरे गर्भ में उतर
अंकुरित होना चाहता हूं.

शब्द हुए निशब्द मेरे
ध्वनियां हो गयीं हाहाकार
स्वर डूब गये सन्नाटे में
रेखाएं हुई निराकार
किसी असाध्य वीणा का तार होना चाहता हूं.

होंठ हो गये पथरीले, सूखे ठूंठ सी बाहें
वर्जनाओं की आंच सुलगती
पथ-भ्रष्ट हुई निगाहें
ज्वालामुखी के मुहाने पर लावे-सा धधकना चाहता हूं.

शांत हैं लहरें, मगर कल्पना के पांव थरथराते हैं
चुपचाप तिरती नाव को
भावना के भंवर बुलाते हैं
निभा ली मर्यादा सागर की
ज्वार बन उमड़ना चाहता हूं

कामना की नर्म कोंपलों से भरी हैं शाखें
खूशबू का जाल फेंकती
फूल-सी खिली हैं मेरी आंखें

धूप चांदनी में नहा लिये बहुत
खाद बन मिट्टी में समाना चाहता हूं
बीज होना चाहता हूं.

– सुरेश ऋतुपर्ण

सम्पादकीय

कोरोना और आदमी

इक्कीसवीं सदी में यह तीसरी बार है जब कोरोना जैसी बीमारी ने हमारे दरवाज़ें पर दस्तक दी है. पिछली दो बार दस्तक हल्की-सी थीं. हमने अनसुना कर दिया फिर भी काम चल गया. पर इस बार सिर्फ दस्तक ही नहीं दी गयी, कोरोना नाम की आफत धड़धड़ाते हुए हमारे घर के भीतर घुस आयी है, और हमला इतनी तेज़ी से हुआ है कि आदमी हड़बड़ा भी गया है और घबरा भी गया है. आतंक सारी दुनिया पर छा गया है इस बीमारी का. इलाज खोजा जा रहा है, और उम्मीद की जानी चाहिए कि देर-सबेर इलाज मिल भी जायेगा. फिलहाल तो यही कहा जा रहा है कि हमें इस बीमारी के साथ जीना सीखना होगा.

साथ जीने का सीधा-सा मतलब है इसके खतरों को स्वीकार करना और परिणामों से डरे बगैर बीमारी का मुकाबला करना. बात बीमारी के साथ दोस्ती करने की नहीं, इससे न डरने की है. आज की सचाई तो यह है कि इस खतरे से ज़्यादा खतरनाक वह डर सिद्ध हो रहा है, जिसके चलते आदमी और आदमी के बीच एक दूरी बनती जा रही है. यह दूरी 'दो गज़' वाली नहीं है. यह शारीरिक दूरी एक तात्कालिक आवश्यकता है. यह सावधानी तो बरतनी ही होगी. लेकिन बड़ा खतरा उस दूरी से है जो इस बीमारी के डर ने आदमी और आदमी के बीच पैदा कर दी है. सवाल हाथ न मिलाने या गले न लगाने का ही नहीं है, सवाल उस पनपती मानसिकता का है जो सामाजिक व्यवहार और सोच के स्तर पर आदमी को आदमी से दूर कर सकती है. यह मानसिकता उस संवेदना को मोथरा

बना सकती है– बना रही है– जो मनुष्यता की एक ज़रूरी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहचान है. कोरोना के डर ने मनुष्य की इस पहचान पर हल्ला बोला है. मुकाबला इस हल्ले का करना है, इसे विफल बनाना है.

अभी हमारी संवेदनशीलता समाप्त नहीं हुई. इस संवेदनशीलता के ढेरों उदाहरण इस आपदा के दौरान हमने देखे हैं. आदमी की असहायता और परेशानी देख कर आंखें आज भी भीगती हैं, मन भी भीगता है. लेकिन, इस बीमारी के ड़र ने आंसू सूखने का खतरा अवश्य पैदा कर दिया है. इस खतरे से जूझने का तरीका यही है कि हम आपने भीतर की आदमीयत के पौधे को सूखने न दें; हमें यह बात भी कहीं न कहीं छुए कि बीमार पड़ने या बीमारी से मरने वाले सिर्फ आंकड़ा नहीं होते. ज़रूरी यह भी है कि वे ही नहीं, बाकी सब भी हमें अपने जैसे आदमी लगें. उनकी खुशी हम में ईर्ष्या न जगाये, उनकी पीड़ा का अहसास हमें भी हो.

एक बात और जिसे समझना ज़रूरी है, वह इस आपदा में पर्यावरण के स्वस्थ होने की है. हमारी नदियां, हमारा आकाश, हमारी हवा जाने पहले कब इतने निर्मल और स्वच्छ थे. यह परिवर्तन इस बात का सबूत है कि पर्यावरण का संकट हमारा अपना पैदा किया हुआ है, और इस संकट से मुक्त हुआ जा सकता है. समझना यह भी ज़रूरी है कि कभी-कभी आपदा वरदान बन कर भी आती है. पर्यावरण के प्रति हमारी जागरूकता ऐसा ही एक वरदान है जिसे समझना और जिसका लाभ उठाना. हमारे भविष्य की बेहतरी की शर्त है. सवाल इस शर्त को पूरा करने और आदमी की संवेदनशीलता को ज़िंदा रखने का है. इन दोहरी शर्तों को पूरा करने की हमारी ईमानदार कोशिश ही सही अर्थों में हमें कोरोना-काल और कोरोना-संकट से मुक्ति दिलायेगी.

कोरोना के साथ और कोरोना के बाद जीवन

● जितेंद्र भाटिया

बस इक कदम उठा था ग़लत राह-ए शौक में
मंज़िल तमाम उम्र मुझे ढूंढ़ती रही

आज, जबकि दुनिया की सुदूरतम सरहदें कोरोना की चपेट में आ चुकी हैं, यह बहस बेकार है कि यह महामारी चीन के वुहान नगर में उठाये किसी गलत कदम से पूरे विश्व में फैली, या कि किन्हीं खुराफाती तत्वों ने बदले की भावना में इसे पूरे होशो-हवास के साथ छुट्टे सांड़ की तरह दुनिया में छोड़ दिया. ताज्जुब यह है कि इसके प्रयोगशाला में निर्मित होने में विश्वास रखने वालों में नोबेल पुरस्कार विजेता फ्रांसीसी वैज्ञानिक लुक मोंटानियर से लेकर अमेरिका के राष्ट्रपति और हमारे अपने देश के परिवहन मंत्री तक हैं, हालांकि जापान के नोबेल वैज्ञानिक तासाकु होंजो ने अपने नाम से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में फैलाई जा रही इसी आशय की अफवाहों का पुरज़ोर खंडन करते हुए कहा कि 'इस समय, जब हमारी सारी शक्ति इस महामारी से लोगों को बचाने, उनकी व्यथा कम करने और उन्हें एक नयी शुरूआत की ओर मोड़ने पर खर्च होनी चाहिए, इसके उद्गम के बारे में इस तरह की अवैज्ञानिक और आधारहीन अफवाहों का फैलाया जाना बेहद दुर्भाग्यपूर्ण है.

सम्भव है कि कोरोना के इस वर्तमान दौर की समाप्ति तक पूरी दुनिया में इससे मरने वालों की संख्या पांच लाख या इससे भी अधिक पहुंच जाए. इन पंक्तियों के

लिखे जाने तक हम तीन लाख का आंकड़ा पार कर चुके हैं. हमारे देश में घनी आबादी के मुकाबले इस महामारी का प्रकोप कम रहा है और यहां भी इसकी सर्वाधिक मार महानगरों ने झेली है, जहां से देश के लगभग सत्तर प्रतिशत मामले सामने आये हैं. यूरोप और अमेरिका के मुकाबले भारत में कोरोना के संक्रमण के कम होने और उनमें मृत्यु का अनुपात और भी कम होने को लेकर कई तरह की अटकलें लगायी गयी हैं, मसलन देश की अधिकांश जनसंख्या का बीसीजी टीके से सुरक्षित होना, हमारी आबोहवा का गर्म अथवा अधिक आर्द्र होना आदि आदि, लेकिन इनमें से कोई भी कारण हमें आश्वस्त नहीं करता क्योंकि गर्मियों के आने के साथ इसके कम होने के कोई संकेत फिलहाल दिखाई नहीं दे रहे और सम्भव है कि आने वाले दिनों में विश्व स्वास्थ्य संस्थान के मुताबिक संक्रमण के मामले और बढ़ जाएं. फिलहाल हमारे सामने दिन-रात अपने घरों के लिए निकले करोड़ों विस्थापितों की हृदयविदारक, विचलित कर देने वाली तस्वीरें हैं जिनकी जवाबदेही किसी के पास नहीं, यद्यपि ये चित्र अमेरिका, इंग्लैंड और इटली के भारी मौतों के दृश्यों से कहीं अधिक दर्दनाक और पिघला देने वाले हैं.

यह विश्व समय-समय पर कोरोना जैसी वैश्विक महामारियों से गुज़रता रहा है, लेकिन हम इन्हें बहुत जल्दी भूल जाते हैं. यदि इतिहास पर नज़र डालें तो 2020 का कोरोना 1896 के प्लेग और 1918 के स्पेनिश फ्लू की ही पुनरावृत्ति है. तब हमारे देश ने बाकी दुनिया के मुकाबले इन दोनों महामारियों का सबसे क्रूर प्रहार झेला था. प्लेग की कुल 1.2 करोड़ वैश्विक मौतों में से लगभग एक करोड़ अकेले भारत में थी और स्पेनिश फ्लू की कुल 10 करोड़ मौतों में भारत की हिस्सेदारी 1.8 करोड़ तक बतायी जाती है. 'निराला' ने तब अपने संस्मरणों में गंगा नदी को लाशों से पटा हुआ बताया था. कहा जाता है कि बीमारी में जब उनकी पत्नी और परिवार के सदस्य जाते रहे थे तो दाह संस्कार के लिए लकड़ी जुटाना भी मुश्किल हो गया था. गांधीजी तक इसके संक्रमण से अछूते नहीं रहे थे. एक अनुमान के अनुसार तब देश की 5 प्रतिशत आबादी ने महामारी में जान गंवायी थी, तो दूसरी ओर पूरे विश्व की एक तिहाई जनसंख्या इससे संक्रमित हो गयी थी.

1918 की महामारी सम्भवतः बम्बई में युद्ध से आये किसी सैनिक जहाज़ से शुरू होकर पूरे देश में फैली थी, लेकिन इसमें मरने वालों की भारी संख्या के पीछे बहुत सारी प्रशासनिक नाकामियां थीं. अंग्रेज़ी शासकों का समूचा ध्यान तब पहले विश्वयुद्ध पर था. एक ओर सैनिकों को रसद पहुंचाई जा रही थी तो दूसरी ओर पूरा देश एक अप्रत्याशित सूखे और अकाल
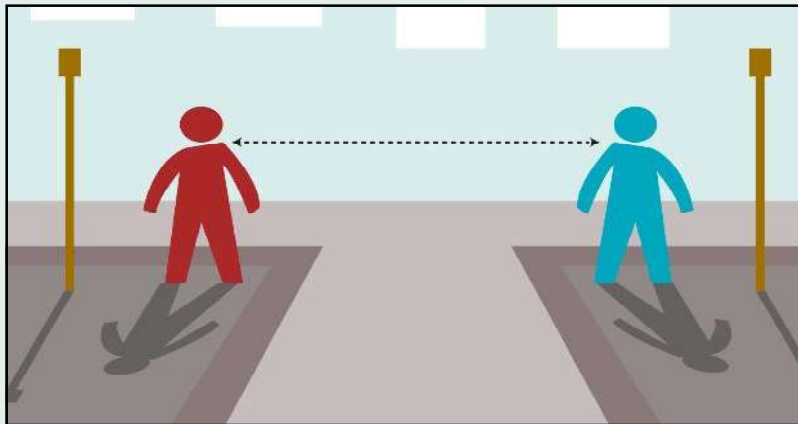
की चपेट में था. आज के 'लॉकडाउन' की विस्थापन त्रासदी से ठीक उलट, 1918 में तब भूख से सताये हज़ारों-लाखों भूखे, कुपोषित लोग भोजन और आजीविका की बदहवास तलाश में गांवों से शहरों की ओर भागते हुए महामारी का शिकार हो गये थे. मरने वालों में सर्वाधिक संख्या गरीब जातियों और उनके परिवारों में कम खाकर गुज़र करने वाली स्त्रियों की थी. सवाल उठाया जा सकता है कि सौ वर्ष गुज़र जाने, देश में जनतांत्रिक सरकारें आ जाने और (1918 के सूखे के मुकाबिल) देश के अनाज-गोदामों के ठसाठस भरे होने के बावजूद हमने 1918 की स्पेनिश फ्लू महामारी से कोई सबक इस कोरोना युग में सीखा है? शायद नहीं.

स्पेनिश फ्लू छोड़िए, सबक हमने उस पड़ोसी देश बांग्लादेश तक से नहीं सीखा, जिसने मार्च के अंत में 'लॉक डाउन' की घोषणा चार दिन अग्रिम में कर दी थी और आगे के 96 घंटों में देश की पूरी व्यवस्था लोगों को अपने घरों-ठिकानों तक सुरक्षित पहुंचाने के इंतज़ाम में जुट गयी थी. इसके चलते वहां दिहाड़ी मजदूरों की बड़ी जनसंख्या के बावजूद विस्थापन का कोई संकट पैदा नहीं हुआ. इसके विपरीत बांग्लादेश से वर्गक्षेत्र में 22 गुना और जनसंख्या में 8 गुना बड़े भारत ने मात्र चार घंटों के तानाशाही ऐलान पर देश को 52 दिनों के सख्त 'लॉकडाउन' की तालाबंदी की ओर धकेल दिया था. इससे आगे के परिणाम हम सब जानते हैं. आज 'न खुदा ही मिला न विसाल-ए-सनम' वाले अंदाज़ में जहां एक ओर देश के 8 करोड़ प्रवासी मजदूर घर पहुंचने के लिए जीवन-मरण की मुश्किल यातनाओं से गुज़र रहे हैं, वहीं दूसरी ओर पूरे देश में कोरोना संक्रमितों की संख्या 'लॉकडाउन' के पहले दिन

(यानी 25 मार्च 2020) के 562 (11 मृत्यु) के कुल आंकड़े से बढ़कर 15 मई तक अस्सी हज़ार को पार कर चुकी है (2649 मृत्यु) और संक्रमण की इन संख्याओं ने अब कोरोना के मूल स्रोत चीन को भी पीछे छोड़ दिया है, हालंकि हमारे मृत्यु के आंकड़े अब भी चीन से बेहतर हैं. अधिकांश जानकारों का कहना है कि देश में अब भी यह संक्रमण अपने शीर्ष तक नहीं पहुंचा है. लिहाजा पूरा देश, और खास तौर पर मुंबई निवासी आज भी अपने-अपने घरों में दिल को थामे बैठे हैं.

लेकिन इस कहानी का एक सकारात्मक पक्ष भी है.

जिस तरह धर्म अपने आख्यानों में पापों की इंतहा हो जाने के बाद संसार में किसी महापुरुष या भगवान के हस्तक्षेप की बात करता है, कुछ उसी अंदाज़ में पर्यावरणशास्त्री कहते हैं कि मनुष्य की बदकारियों के परिणामस्वरूप यह प्रकृति पलटवार में आपको अपने क्षणभंगुर होने का अहसास देर सबेर दिला ही देती है. इंसान द्वारा प्रकृति पर प्रतिदिन होने वाले अत्याचारों में से कई के दुष्परिणाम तो वर्षों बाद हमें तब पता चलते हैं, जब बहुत देर हो चुकी होती है. दशकों पहले कवि प्रदीप ने एक गीत में 'बारूद के इक ढेर पे बैठी है ये दुनिया' की जो प्रतीति हमें दी थी, उसे कोरोना के इस युग में हम आंखों के सामने प्रत्यक्ष देख रहे हैं, हालांकि इस अभिनव वायरस के तार हमारी किन-किन बदकारियों से जुड़े हैं यह अभी तक साफ़ नहीं हो पाया है.

लेकिन प्रकृति की न्यायिक सत्ता का एक अनोखा नियम यह भी है कि वह जितना लेती है, उससे कहीं अधिक हमें लौटा भी देती है. हम और आप देख रहे हैं कि 'लॉकडाउन' से पूरी दुनिया में इंसानी हरकतों के पूर्णविराम के बाद प्रकृति कैसे खिलकर अपने पुराने सुहाने रूप में लौट आयी है. घरों के बाहर पक्षी चहचहाने लगे हैं, गंगा का पानी कई जगह तो पीने के काबिल हो गया है और हिमालय से सैंकड़ों मील दूर सहारनपुर से उसकी बर्फीली चोटियां पहली बार दिखाई देने लगी हैं. यूरोप में कोरोना से बेतरह आक्रांत इटली और वेनिस में महामारी के बाद हुई सफाई, मनुष्यों की तालाबंदी और प्रदूषणकारी गोंडोला नावों के थमने से वहां की नहरों में मछलियां फिर से लौट आयी हैं और वहां हंस और प्रकृति हितैषी डोल्फिन तैरते और छलांगें लगाते दिखने लगे हैं. महामारी के बीच प्रकृति की यह करवट अनायास नहीं है.

'लॉकडाउन' खुलने के इंतज़ार में कहा यही जा सकता है कि कोरोना का यह मुश्किल समय हमारे आडम्बरी, विषाक्त शहरी जीवन पर पुनर्विचार करने और हमें फिर से प्रकृति की ओर ले चलने पर बाध्य करने वाला जीवनदायी समय भी है. ❑

धरती को फिर से स्वस्थ बनाने का अवसर

● विमल मिश्र

शीतल हवाओं के मदमाते झोंके, दूर तक चमकती रेत और सामने अठखेलियां करता समंदर का बिल्कुल साफ नीला पानी. यह गंदा माने जाने वाले मुंबई के जुहू बीच का आज का नज़ारा है. बाघ, हिरण और तमाम वन्यजीव जंगल छोड़ शहर में टहलने चले आये हैं– इस अचरज में कि इन्सान आखिर चले कहां गये! जगह-जगह सड़क बीच मोर नाच रहे हैं. सुबह की नींद अलार्म से नहीं, गौरैया और बुलबुल की चहक से खुलने लगी है, जिनकी आवाज़ें हम कब के भूल गये थे. आसमान बिल्कुल नीला और बेदाग है और फलक पर उड़ते बादल ताजी धुनी रूई जैसे. रात के आकाश में नक्षत्र इतने चमकीले और साफ़ कि पहली नज़र देखते ही पहचान लो. बताइए, क्या इससे पहले आपने नंगी आंखों से चंडीगढ़, जालंधर और मुरादाबाद से हिमालय की चोटियां कभी देखी थीं!

सड़कें वीरान सही, पर उन्हें डरावना बनाने वाला धुआं और धुंध अब साफ़ है. फूलों से लहकता बाग सड़क के बिल्कुल किनारे उतर आया है. आम दिनों में आचमन योग्य न समझी जाने वाली नदियां इतनी पारदर्शी कि तल में मछलियां साफ दिखती हैं. समुद्रों की लहरों में जल-जीवन फिर से सांसें लेने लगा है. फिजाओं में नयी ताजगी और हवा बिलकुल साफ़ है. बीते 20 वर्षों में चीन से निकले सार्स,

स्वाइन फ्लू और एवियन फ्लू जैसी महामारियों की तरह वुहान से चले वायरस ने भी लाखों लोगों को मौत के हवाले कर पिछले चार महीनों में हमारी दुनिया को बदल कर रख दिया है. इंसान की गुस्ताखियों पर लॉकडाउन की लगाम ने हमें मानवता के सबसे बड़े संकट से रू-ब-रू करने के साथ हमारी पृथ्वी की उम्र भी कुछ वर्ष और बढ़ा दी है. कोरोना की वैक्सीन चाहे जब बने, पृथ्वी को तो उसकी वैक्सीन मिल गयी है– वह सबक, जो कोविड-19 ने समूची मानव जाति को सिखाया है.

ताकि बना रहे ओजोन का कवच

'लॉकडाउन ने सब साफ़ कर दिया', बनारस में तुलसी घाट के अपने मकान से सामने गंगा के स्वच्छ विस्तार को देखते हुए संकटमोचन मंदिर के महंत विश्वंभरनाथ मिश्र– जो काशी हिंदू विश्वविद्यालय आईआईटी के प्रोफेसर भी हैं– बताते हुए मगन दिख रहे हैं. प्रकृति ने जब यह देख लिया कि उसके भले की चिंता किसी को नहीं है तो उसने यह जिम्मा खुद उठा लिया. वातावरण धुल कर साफ़, वायु में घुलते ज़हर का असर क्षीण होने लगा है और नदियों का जल निर्मल. महंतजी का उद्गार इसी कुंठा से निकला है. जिस गंगा को स्वच्छ करने का अभियान 45 साल से समय और हज़ारों करोड़ रुपए खर्च करने पर भी नाकामयाब दिख रहा था उस गंगा का बदला रूप अब पहचाना नहीं जा रहा. जिस बनारस से इस अभियान की शुरूआत हुई वहां गंगा में घुलनशील ऑक्सीजन की मात्रा 8.3-8.9 ग्राम प्रति लीटर पायी गयी, जो स्वच्छ जल के न्यूनतम स्तर 7 ग्राम प्रति लीटर से पर्याप्त अधिक है. आई.आई.टी. बीएचयू में केमिकल इंजीनियरिंग के प्रोफेसर डॉ. पी. के. मिश्र के मुताबिक गंगा के प्रदूषण में 40-50 फीसदी सुधार आया है. दिल्ली की मटमैली यमुना और गटर बन चुकी मुंबई की मीठी नदी साफ़ हो गयी है. उद्योगों और वाहनों की रफ्तार थम जाने से कोयले से बनने वाली बिजली की खपत घट गयी है और साथ ही नाइट्रोजन डाईआक्सॉइड और सल्फर आक्साइड की मात्रा भी. कोरोना ने 2.6 अरब टन कॉर्बन डाईआक्साइड को वायुमंडल में जाने से रोक दिया है. नतीजतन ओजोन डिप्लीटिंग सबस्टेंस, यानी वायुमंडल में ओजोन को नष्ट करने वाले पदार्थों की कमी के कारण ओजोन के क्षरण की दर भी तेजी से गिरी है. वायुमंडल में करीब 15-35 किमी की ऊंचाई पर मौजूद ओजोन की यह परत ही तो सूरज से आने वाली पराबैंगनी (यू.वी.) किरणों को धरती पर आने से रोकने की ज़िम्मेदार है, जो पृथ्वी पर जीवन को सम्भव बनाती है.

देश के शहरों में गहराते वायु प्रदूषण की पहचान कराने वाला वायु गुणवत्ता

इंडेक्स (एक्यूआई) अविश्वसनीय रूप से दो अंकों में सिमट चुका है. वायु की प्रदूषणकारी धूल कणिकाओं के साथ ध्वनि प्रदूषण भी अभूतपूर्व ढंग से कम हो गया है. सड़कों पर रुके ट्रैफिक, पटरियों पर थमीं रेलें और प्रति मिनट आकाश में उड़ान भर रहे 20 हज़ार से अधिक विमानों के जमीन पर आ जाने से वायुमंडल राहत में है. कैलिफ़ोर्निया की स्टेनफर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर रॉब जैक्सन बताते हैं, 'कार्बन डाईऑक्साइड और मीथेन जैसे हानिकारिक उत्सर्जन में इस वर्ष वैश्विक स्तर पर पांच फीसदी से ज़्यादा की कमी आने की उम्मीद है– दूसरे विश्व युद्ध के बाद पिछले 70 सालों में पहली बार.'

भविष्य हमारे ही हाथ

कुल मिलाकर दृश्य कुछ ऐसा है, जैसे प्रदूषण के जिन्न को मानो बोतल में बंद कर दिया गया हो. पर, प्रकृति में दिख रहे ये सुधार प्रकृतिप्रदत्त चेतावनी हैं– वे ईश्वरीय संकेत, जिनके परिणाम लॉकडाउन की कैद से छूटने के बाद होने वाले हमारे व्यवहार पर निर्भर करेंगे. संभल गये तो ठीक है, वरना हमारी आब-ओ-हवा में अबकी जो जहर घुलेगा वह पहले से ज़्यादा होगा. सवाल है, कोरोना काल से हुए नुकसान की भरपाई के लिए विकास की रफ़्तार को तेज़ करना जब मजबूरी होगी, क्या हम यह काम प्रकृति को नुकसान पहुंचाये बिना कर पायेंगे? बिल्कुल, अगर हम अपनी जीवन शैली और विकास प्रक्रिया के तौर-तरीकों को बदल पाये तो. औद्योगिक क्रांति से पहले, 1973 और 1979 के तेल संकट, 1991 का सोवियत संघ का विघटन और 1997 का एशियाई आर्थिक संकट और सबसे हालिया 2008 की आर्थिक मंदी –इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, जब कोरोना जैसी ही महामारियों के कारण भारी विनाश हुआ था और सन्निपात में पड़ी आर्थिक विकास की रफ्तार को बढ़ावा देने के लिए सभी देशों ने प्राकृतिक संसाधनों का अमर्यादित दोहन बढ़ा दिया था. प्रोत्साहन पैकेज और खनिज तेल की कम कीमतों की वजह से आर्थिक गतिविधियां पहले से बढ़ गयीं थीं. नतीजतन कार्बन उत्सर्जन भी अंधाधुंध बढ़ा था, ग्लोबल वॉर्मिंग के रूप में जिसका दुष्परिणाम पूरी मानव जाति आज तक भुगत रही है. हवा में कार्बन डाईऑक्साइड का स्तर आज ज़रूर रिकॉर्ड स्तर पर कम दिखता है, पर यह कोई पहली बार नहीं है. दरअसल, यूरोप में चौदहवीं सदी में आयी 'ब्लैक डेथ' हो या दक्षिण अमेरिका में फैली छोटी चेचक, दुनिया भर में सौ वर्ष पहले प्लेग से लेकर नयी महामारियों तक-जब भी ऐसा हुआ प्रकृति ने खुद को शुद्ध करने का रास्ता निकाला है. मसलन, जब महामारियों के चलते लोग लाखों की तादाद में मरे तो खेती की ज़मीन भी खाली हो गयी और वहां ऐसे जंगली पौधे

और घास उत्पन्न हो गये, जिससे गुणवत्तापूर्ण कार्बन निकली जो लाभदायी थी.

कोरोना भी इन्हीं वायरसों की तरह मनुष्य और प्रकृति के बीच पैदा हुए प्राकृतिक असंतुलन का दुष्परिणाम है. ग्लोबल वॉर्मिंग सहित पारिस्थितिकीय परिवर्तनों ने विषाणु और प्रदूषणजन्य रोगों से लड़ने की हमारी प्रतिरोधक क्षमता को पहले ही कम कर दिया है. अब उसकी विभीषिका को और बढ़ा रहे हैं बेरोकटोक आर्थिक विकास और प्राकृतिक संसाधनों के बेतहाशा दोहन जैसे कारण. बढ़ती आबादी से विश्व में शहरीकरण एवं औद्योगीकरण का जिस पैमाने पर विस्तार हो रहा है उसी पैमाने पर सिमट रहा है खनिज सम्पदा और वनोपज का दायरा. इससे जैविक और प्राकृतिक असंतुलन की स्थिति पैदा हो गयी है. ग्लोबल वॉर्मिंग और जलवायु परिवर्तन से जुड़ी आपदाओं के साथ प्रदूषण से होने वाली बीमारियां भी बढ़ रही हैं. बीता वर्ष 2019 सबसे गर्म वर्ष और 2010-2019 के दशक को सबसे गर्म दशक के रूप में रिकॉर्ड किया गया और यह सिलसिला अभी और विकट होने वाला है.

कोरोना ने यकीन दिला दिया है कि सड़क पर गाड़ियों की कतारें, धुआं उगलती फैक्ट्रियां और धूल बिखेरते निर्माण हमारे विकास की असली पहचान नहीं है. न ही हैं– अति-भौतिकवाद, उत्पादनवाद और उपभोगवाद. कोरोना संकट केवल जैव-विविधता और पर्यावरणीय क्षति को नुकसान नहीं है, मनुष्यता का भविष्य भी इसके साथ जुड़ा हुआ है. एक ताजा रिपोर्ट के मुताबिक प्राकृतिक आपदाओं की वजह से दुनिया में 85 करोड़ से अधिक लोग भुखमरी के कगार पर हैं और लगभग 75 लाख लोग विस्थापित. स्विट्ज़रलैंड के आईक्यू एयर विजुअल की 2019 की स्टेट ऑफ ग्लोबल एयर रिपोर्ट के अनुसार विश्व के सबसे प्रदूषित 30 शहरों में 21 भारत में हैं– 'सबसे प्रदूषित' दिल्ली सहित. इस रिपोर्ट ने भारत की 12 लाख मौतों के लिए सीधे प्रदूषण को ही ज़िम्मेदार माना है. कोविड-19 के संदर्भ में चिंता में डाल देने वाली दो और बातें हैं. पहले, इसका सबसे अधिक प्रभाव गरीब-वंचित तबकों, बुजुर्गों और बच्चों पर पड़ने वाला है, जिन्हें एयर प्योरिफायर जैसे प्रदूषण निवारक उपकरणों की सुरक्षा हासिल नहीं है. और दूसरे, इबोला, सार्स, मेर्स और अब कोविड-19 जैसी हालिया संक्रामक बीमारियों में से तीन-चौथाई पशुजन्य हैं, जिनकी विभीषिका को मौसम बदलाव, निर्वनीकरण, औद्योगिक कृषि और अवैध वन्यजीव व्यापार की बढ़ती प्रवृत्तियों ने बढ़ा दिया है.

सामूहिक ज़िम्मेदारी

बच्चों के लिए तो यह खतरा और भी अधिक है. विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट बताती है कि विश्व के 90 प्रतिशत से अधिक बच्चे ज़हरीली हवा में सांस

लेने के लिए अभिशप्त हैं, जबकि 15 से कम उम्र के छह लाख बच्चे श्वासनली के संक्रमण के कारण जान खो देते हैं. पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों में तो यह मृत्यु दर 10 में एक है. सचाई यह है कि कोरोना काल में दिख रहा यह बदलाव केवल कॉस्मेटिक है. हुआ बस इतना है कि सब कुछ बंद हो जाने से कार्बन उत्सर्जन रुक गया है. पृथ्वी जब फिर चलायमान होगी तो यह वापस लौट आयेगा. प्रदूषण की इस कमी से ग्लोबल वॉर्मिंग का कुछ बिगड़ने वाला नहीं. अगर अपने वातावरण को हम अगले 22 वर्ष तक साफ़-सुथरा रखें तब जाकर ज़रूर हम पृथ्वी के बढ़ते तापमान में किसी घटोत्तरी की आशा कर सकते हैं. ऐसे में ग्लोबल वॉर्मिंग को पीछे धकेलने का एक ही रास्ता बचता है– कि विकास की वैकल्पिक रणनीति का विचार मौजूदा हालत के अनुरूप ही हो, क्योंकि कोविड-19 अब पसंद-नापसंद का मुद्दा नहीं, आपातकालीन स्थिति है. ऐसे में अमेरिका के हालिया कुछ निर्णय माथे पर शिकन डाल देने वाले हैं, जहां अमेरिकन एनवॉयरनमेंटल प्रोटेक्शन एजेंसी ने नयी कारों के लिए ईंधन दक्षता मानकों को अनिश्चितकाल तक के लिए जान-बूझकर अनदेखी कर अधिक कार्बन उत्सर्जन को धड़ल्ले से हरी झंडी दिखा दी है.

कोरोना संकट ने आने वाले समय में हमारे सामने यह चुनौती उपस्थित की है कि प्रकृति के इस भावन रूप को हम किस तरह से आने वाली पीढ़ियों के लिए बचा कर रखते हैं. केंद्र और राज्य सरकारों के साथ यह हम सबकी सामूहिक जिम्मेदारी है कि हम प्रदूषण को फिर से ना बढ़ने दें. इसकी राह हैं हरित अर्थव्यवस्था और फॉसिल फ्यूल की जगह क्लीन पावर व कार्बन कैप्चर टैक्नोलॉजी जैसे विकल्प और पर्यावरणीय-नवीनीकरण से जुड़े कार्यक्रम. 'वर्क फ्रॉम होम' व 'वर्चुअल ऑफिस' और कारोबारी मीटिंगों की जगह वीडिओ मीटिंग्स जैसे तरीके अब इमरजेंसी नहीं स्थाई विकल्प के तौर पर अपनाये जाने चाहिए. इससे कारोबारी यात्राएं घटेंगी और ऊर्जा की खपत के साथ प्रदूषण में भी कमी आयेगी. अगर हम अपने भीतर झांकें तो यह अवसर दिखेगा अपनी लालसाएं और लालच को भी थोड़ा कम कर पाने का. महात्मा गांधी का कहा याद कीजिए कि 'पृथ्वी सारे इनसानों की ज़रूरतें पूरी करने में तो समर्थ है, लेकिन वह एक भी मनुष्य के लालच को पूरा नहीं कर सकती.' कोरोना काल– वक्त है जब पूरी दुनिया पर्यावरण और विकास के संतुलन के बारे में गम्भीरता से सोचे. प्रकृति माता ने हमें लालच और वास्तविक ज़रूरतों के बीच अंतर समझा कर धरती को फिर से सेहतमंद बनने का अवसर दिया है. क्या इसे हम यूं ही गंवा देंगे!

❑

कोरोना के बाद कहां तक है कुदरत की तरफ लौटना मुमकिन

● अनूप सेठी

खलील जिब्रान की एक छोटी-सी कहानी है जिसमें ज़िक्र आता है कि एक भागता हुआ कुत्ता दूसरे कुत्ते को पूछने पर बताता है कि जल्दी करो सभ्यता हमारे पीछे पड़ी है. पर्यावरण को बचाने यानी उसे मूल रूप में रखने या कुदरत के कुदरती रूप में बने रहने पर जब हम विचार करने लगते हैं तो 'सभ्यता' शब्द बीच में आ खड़ा होता है. यूं 'संस्कृति' शब्द भी बीच में आता है पर वह 'सभ्यता' की तरह रोड़ा नहीं बनता. लेकिन सभ्यता और संस्कृति का आपस में चोली-दामन का सम्बंध है इसलिए संस्कृति भी कटघरे में खड़ी हो जाती है.

कुछ चिंतक यह मानते हैं कि मनुष्य ने जब से अपने खाने-पीने की आदतें डालीं, तभी से वह कृत्रिम होना शुरू हो गया. यानी उसकी रहनी में नकलीपन या कृत्रिमता आने लगी. यानी वह वैसा ही नहीं रहा जैसा कोई भी अन्य कुदरती पदार्थ या प्राणी होता है. पर सत्य इतना एक रेखीय नहीं है. यह खासा गुंजलक भरा है.

इसी तरह जो लोग मौजूदा रहन-सहन और कृत्रिमता से परेशान हैं वे सीधे सृष्टि के आरम्भ में लौट जाना चाहते हैं. पर क्या ऐसा सम्भव है? पीछे लौटना इतना ही आसान होता तब तो कोई दिक्कत ही नहीं थी. इसलिए जहां हम आज हैं उससे आगे ही बढ़ना है. और कोई रास्ता नहीं. आगे की इस यात्रा में ही हमें तय करना है कि हमें क्या और कितना परिवर्तन करना है या हम क्या और कितना परिवर्तन करना चाहते हैं.

यहां तक पहुंचने की प्रक्रिया में हमारी मनुष्य बनने की प्रक्रिया भी शामिल है. यानी हम बाकी प्राणियों से थोड़ा अलग तरह के प्राणी हैं. हमारा मस्तिष्क, हमारा स्नायुतंत्र, हमारा मन, हमें बाकियों से अलग करता है. प्रकृति के बीच जीवित बचे रहने तक की जद्दोजहद होती तो ठीक था, जिसे सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट कहते हैं. यह सहजवृत्ति जीवित रहने से जुड़ी है. लेकिन मनुष्य के पास सोचने के लिए दिमाग भी है महसूस करने के लिए दिल भी है. यहीं से खुराफात शुरू हो जाती है.

मनुष्य अपने लिए चीज़ों को आसान

करने की कोशिश करता है. वह प्रकृति के लगभग सभी अवयवों का उपयोग करना शुरू करता है. मनुष्य के पास कर्मेंद्रियां और ज्ञानेंद्रियां भी हैं. दिमाग, दिल, मन, कर्मेंद्रियां, ज्ञानेंद्रियां, मनुष्य के बहुत ही परिष्कृत, महीन और श्रेष्ठ उपकरण हैं जो अवसर आने पर आयुध भी बन जाते हैं. इंद्रियां अन्य प्राणियों में भी हैं पर मस्तिष्क के प्रयोग से मनुष्य ने इनका बहुविध उपयोग सीख लिया है. इन उपकरणों के इस्तेमाल से वह दूसरे प्राणियों के बीच खुद को अपनी इच्छा अनुसार स्थापित कर सका है. इन जटिल औज़ारों की वजह से मनुष्य सोचने लगा, बोलने लगा, उसने भाषा बना ली, लिपि बना ली; इसी क्रम में उसने स्मृति बना ली. एक तरफ उसकी भौतिक यात्रा है जिसमें कृषि सभ्यता का विकास होता है. साथ-साथ बौद्धिक यात्रा है जिसमें वह अपने इन अतिरिक्त औज़ारों की मदद से भौतिक यात्रा को उत्तरोत्तर अधिक उपयोगी और आसान करने की जुगत करता रहता है. एक तरह से देखा जाए तो इस सारे उपक्रम में वह प्रकृति से दूर ही जा रहा था. यानी जो उसका प्राकृतिक स्वरूप या स्वभाव था उसमें परिवर्तन आता चलता है. एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी. जब आदमी ने कच्चा मांस खाना छोड़ दिया, आग ढूंढ़ ली और मांस पकाने लग गया तो उसके दांत कमज़ोर हो गये, छोटे भी हो गये और उनकी संख्या भी कम हो गयी. अपने रहने के लिए गुफा बनायी, फिर छत बनायी, तो उसके लिए नंगा रहना मुश्किल हो गया. उसे बदन ढंकना पड़ा. फिर ठंड और गर्मी से बचने के उपाय करने पड़े. मतलब वह थोड़ा कम कुदरती होता गया.

मनुष्य की मानसिक संरचना ऐसी है कि वह सोच-समझ सकता है, उसमें सुख-दुख की भावनाएं भी हैं, वह महसूस भी कर सकता है और अभिव्यक्त भी कर सकता है. अगर किसी जीव को मारकर खुश होता है तो दुखी भी हो सकता है. वह दूसरे के दुख के प्रति संवेदनशील भी हो सकता है, करुणा की दृष्टि भी उसे प्राप्त है. ये ऐसी शक्तियां हैं जिनकी सहायता से वह प्रकृति के साथ अपने रिश्ते को परिभाषित करता है या कर सकता है.

वह अपने खाने भर के लिए कमाने तक सीमित नहीं रहा. वह संग्रह करने लगा. संग्रह किया तो उसे लालच आने लगा. लालच आया तो वह दूसरे का हिस्सा छीनने से नहीं हिचकिचाया. उसकी न्याय बुद्धि डावांडोल हो गयी. इसी क्रम में वह आमोद-प्रमोद और विलास की सीढ़ियां चढ़ता है. यह पाने के लिए वह 'पुरुषार्थ' करता है. उसकी विवेक बुद्धि उसे 'परमार्थ' की सीख देती है लेकिन वह 'पराक्रम' की तरफ भी झुकने लगता है. पराक्रम का आनंद उठाने और दूसरों के सामने उसका प्रदर्शन करने के चक्कर

में वह ‘विजयी’ होने की तरफ बढ़ता है. विजयी होने का अर्थ है कि जो वह सोच रहा है वही सत्य है. वह अपने चाहे हुए को येन केन प्रकारेण पा लेना चाहता है. जब इस वृत्ति पर कोई अंकुश नहीं हो तो यह ‘अपराध’ में बदल जायेगी. मतलब यह कि विजय भाव की निरंकुशता उसके भीतर ‘अहंकार’ भरती जाती है और वह ‘न्याय भावना’ को छोड़ता चलता है. जब मनुष्य किसी के प्रति ‘अन्याय’ कर रहा होता है तो उसे दूसरे शब्दों में ‘अपराध’ कहा जाता है. यह वृत्ति ‘वीर भोग्या वसुंधरा’ जैसी परम्परा में बदलती है.

हम अपनी सभ्यता के विकास में इसी वीर भोग्या वसुंधरा को फलीभूत होता देखते हैं. यानी मनुष्य इस ब्रह्मांड के केंद्र में है और वह पृथ्वी का किसी भी प्रकार और किसी भी सीमा तक भोग कर सकता है. संस्कृति में ज्ञान, न्याय, करुणा, और कोमलता आदि की विचारसरणियां भी विकसित हुई हैं जिनकी वजह से विजय भाव को बार-बार प्रश्नांकित किया जाता है. लेकिन हम पाषाणकाल से कोरोना काल तक आते-आते अच्छी तरह देख लेते हैं कि हम प्रकृति का व्यभिचार की हद तक दोहन करने से चूके नहीं.

हम पाषाणकाल से कोरोना काल तक आते-आते अच्छी तरह देख लेते हैं कि हम प्रकृति का व्यभिचार की हद तक दोहन करने से चूके नहीं.

हम यही नहीं भूले कि हम प्रकृति के एक मामूली अंश हैं, हम उसके साथ सह अस्तित्व तक बनाकर रखना भी भूल गये. हमने अपने रहन-सहन, खान-पान, सोच-विचार का ऐसा आडम्बर रच डाला कि प्रकृति और प्राकृतिक तरीकों से दूर होते गये. हम प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट करने में ज़रा भी नहीं हिचके. पर्यावरण को दूषित करने के बाद घड़ियाली आंसू बहा कर पता नहीं हम किसे मूर्ख बनाते रहे.

यूं तो यह सवाल हमेशा से उठते रहे हैं और ये सवाल खुद मनुष्य ही उठाता रहा है पर इधर कोरोना वायरस के उभरने पर जैसे प्रकृति ने एक चेतावनी दी है. प्रकृति पहले भी चेतावनी देती रही है. वह मनुष्य को उसकी ‘औकात’ दिखाती रही है. इस बार यह वायरस ऐसा फैला है जिसकी वजह से हमारे रहन-सहन के तरीकों पर बंधन लग गया है. तकरीबन सभी देशों के सभी तरह के कारोबार पिछले दो-तीन महीने से ठप पड़े हैं. हमने पिछली कई शताब्दियों से खुद को अर्थव्यवस्था, औद्योगिकीकरण, मशीनीकरण और प्रौद्योगिकीकरण के जटिल और महीन जाल में फंसा लिया है. यह सारा तंत्र इस समय ‘पॉज’ या

'रुके होने' या 'फ्रीज' के मूड में है.

इस ठहराव में भय बहुत है. रोग के संक्रमण का भय, मृत्यु का भय, अर्थव्यवस्थाओं के चौपट होने का भय. दूसरी तरफ उम्मीद भी है. उम्मीद है कि जल्दी ही यह विषाणु मर जायेगा या इसकी दवा ढूंढ़ ली जायेगी या वैक्सीन बना ली जाएगी और जीवन यथावत चलने लगेगा. एक अन्य रोमांचकारी उम्मीद है, जो यूटोपिया जैसी ज़्यादा है. यह उम्मीद बताती है कि इस ठहरे हुए समय में प्रकृति अपने वास्तविक रूप में लौट रही है. हवा साफ हो गयी है, समुद्री पानी साफ हो रहा है, ध्वनि प्रदूषण घट रहा है, ओजोन परत फिर से बनने लगी है. जीव-जंतु निर्भय होकर विचरण कर रहे हैं.

अब सवाल उठता है कि भविष्य के गर्भ में क्या है? लगता है यह कायनात तो बनी रहेगी. यक्ष प्रश्न है कि कौन-सी उम्मीद फलीभूत होगी? दवा बन जाएगी और दुनिया धीरे-धीरे विकास की उसी रफ़्तार को पकड़ लेगी? उसी विकास की जो सत्यानाशी किस्म का है. या स्वप्नजीवियों की उम्मीद को साकार करते हुए प्रकृति केंद्र में आ जायेगी और मनुष्य हाशिये में चला जायेगा? मनुष्य हाशिये में जाएगा तो उसकी अब तक बनायी गयी दुनिया भी हाशिये में चली जायेगी?

लगता है कि दोनों उम्मीदें 'अति' की तरफ झुकी हुई हैं. कोरोना के बाद दुनिया पहले जैसी नहीं रहेगी. उसमें बहुत से परिवर्तन लाने ही पड़ेंगे. फिलहाल किये जा रहे उपायों को देखें तो मनुष्य की सामाजिकता पर गहरा असर पड़ेगा. जब तक वैक्सीन नहीं बनती उसे शारीरिक दूरी और स्वच्छता की घुट्टी पीनी पड़ेगी. सामूहिक गतिविधियों पर अंकुश लग जाएगा. इससे काम-धंधे भी प्रभावित होंगे. अर्थव्यवस्थाएं चरमराएंगी. आर्थिक गतिविधि चालू न हुई तो लोग भूखों मरेंगे. पुराने ढर्रे पर चल पड़ी तो रोग से लोग मरेंगे. इसलिए अब गतिविधि की गति धीमी होगी. दूरसंचार, इंटरनेट जैसे साधनों (यह भी तो कृत्रिम ही हैं) पर निर्भरता और बढ़ेगी.

दूसरी यानी स्वप्नजीवियों की उम्मीद के मुताबिक यह नहीं हो सकता कि सब कुछ छोड़-छाड़ कर सभ्यता हिमालय पर चली जाए. लेकिन मनुष्य को प्रकृति के साथ सह अस्तित्व के सबक को बार-बार याद करना होगा. उसे प्रकृति के समक्ष अपनी भंगुरता, अक्षमता और असहायता को स्वीकार करना होगा. यदि सभ्यता कुदरत के साथ एकमेक होने वाली जीवन दृष्टि बनाये तो शायद दीर्घायु हो सकेगी. संस्कृति में जो विचार और भाव पक्ष न्याय, समता और सह अस्तित्व को तरजीह देते हैं, उन्हें अगर मानव सभ्यता अपना मूल मंत्र माने तो शायद कृत्रिम जीवन पर किंचित लगाम लग जाए और मनुष्य को प्रकृति के सानिध्य में रहना नसीब हो सके. ❑

आवरण-कथा

पहली वैश्विक क्रांति जो एक वायरस से सम्भव होगी

● शिवदयाल

एक असहाय जीव या प्रजाति के रूप में मनुष्य इस धरती पर आया. उसकी सींगें नहीं थीं, नुकीले दांत या पंजे नहीं थे, मोटी खाल नहीं थी और खाल पर घने रोएं नहीं थे. जनमते ही वह अपने पर निर्भर नहीं रह सकता था, अपने पैरों पर चौपायों की तरह खड़ा नहीं रह सकता था. नवजात को सुरक्षा की ज़रूरत थी, वह भी दीर्घ अवधि तक. प्रकृति और परिवेश उसके सर्वथा प्रतिकूल, ऐसा भी नहीं कि आबादी बढ़ाना सुलभ हो. नौ महीने की गर्भावधि के पाश्चात मात्र एक बच्चे का जन्म, जिसे सीधे खड़े होने में दो वर्ष का समय लगता. मौसम की प्रतिकूलताओं के अलावा हर घड़ी परभक्षियों का खतरा.

लेकिन प्रकृति ने उसके लिए अन्य जीवों की भांति धरती से लगकर ही जीवित रहने की अनिर्वायता नहीं बनायी, उसकी रीढ़ को क्षैतिजाकार न रहने देकर उसे लम्बवत्, उदग्र खड़ा कर दिया– मानो पृथ्वी और प्रकृति की सत्ता को चुनौती देने के लिए स्वयं प्रकृति ने ही यह विलोम रचा. और इस क्रम में आगे के दोनों पैरों या पंजों को मुक्त कर दो हाथ बना दिये– पंजों, नाखूनों, दांतों, सींगों की प्रतिपूर्ति! अजब, अकेला जीव धरती पर प्रकृति ने रचा– जिसकी रीढ़ सीधी थी, जो दो पैरों

पर खड़ा था; जिसका सिर, मस्तक आसमान की ओर उठा हुआ था, और जिसके दो हाथ थे– सर्वथा मुक्त. इस तने हुए मस्तक और दो मुक्त हाथों से मनुष्य जाति ने अपनी दुनिया बनानी शुरू की और यह दुनिया कुछ लाख सालों के दौरान मनुष्यों की दुनिया होकर रह गयी. मूल सृष्टि की प्रति-सृष्टि है यह मानवकृत संसार. यह अकेले एक मनुज का उद्यम या पुरुषार्थ नहीं हो सकता था. मनुष्यों ने केवल हाथ की ताकत को ही नहीं जाना, हाथ से हाथ मिलने के चमत्कार का भी आविष्कार किया. सहकार मनुष्य जाति की आदिम वृत्ति है, अगर यह न होती तो आज यह ऐसी दुनिया न होती. दिमाग से दिमाग, हाथ से हाथ और कदम से कदम मिलाकर मनुष्यों ने यह दुनिया निर्मित की.

कोरोना (कोविड-19) ने मनुष्य जाति की इस मूल शक्ति-सहकार को ही तोड़ दिया है. यह समय इसीलिए इतना भयावह है, शायद इतिहास का सबसे भयानक समय. कोरोनाग्रस्त विश्व की मूलभूत चुनौती ही यही है कि इस आपसी सहकार को कैसे पुनर्स्थापित किया जाए– कौन-कौन से विकल्प आजमाये जाएं, जतन किये जाएं कि मनुष्य जाति वापस अपनी मूल वृत्ति में लौटे, लाख झगड़ों-झंझटों, हिंसा-प्रमाद के बावजूद! सहकार उसके अस्तित्व की शर्त है.

अब कोरोना चाहे मानव-निर्मित आपदा हो या प्राकृतिक, इसके चलते जहां मनुष्य जाति के अस्तित्व पर संकट आया है, वहीं प्रकृति को अपने को वापस बटोरने, अपनी खोयी ज़मीन वापस पाने का अवकाश मिला है. इससे स्वयं मनुष्य-जीवन की गुणवत्ता बढ़ेगी, बढ़ रही है. ग्रह के दूसरे सहवासियों-जीव-जंतु-वनस्पतियों के लिए भी अनुकूल जीवन-स्थितियां निर्मित होंगी, हो रही हैं. इस संकट से पार पा लेने के बाद क्या विश्व समुदाय लाखों मनुष्यों के जीवन का मोल चुकाने के बाद उपलब्ध इस दुर्लभ अवसर को यूं ही जाया होने देगा और पुनः अपनी प्रकृतिद्रोही, आत्मघाती कारस्तानियों में जुट जाएगा, या सचमुच कोई सबक लेकर भविष्य-योजना के निर्माण में जुटेगा, यह समय बताएगा. इसी बात पर उत्तर-कोविड दुनिया का स्वरूप निर्भर करेगा.

लेकिन एक बात तय है कोविड-19 संकट और उसके बाद बनी परिस्थितियां हमें वास्तव में एक सभ्यतागत परिवर्तन, यानी वर्तमान सभ्यता से एक दूसरी, कहीं नयी, तथापि अपनी पूर्ववर्त्ती से जुड़ी सभ्यता की ओर ले जा रही हैं, अथवा उस ओर बढ़ने को प्रेरित कर रही हैं. स्वच्छ ऊर्जा और न्यूनतम खनिज-पोषित जीवन इसका भौतिक आधार होगा. मनुष्य समाजों की, देशों की परस्पर निर्भरता, और आपसी सहयोग-सहकार इसकी चालक शक्ति होगी.

इसके लिए एक नयी विश्व अर्थव्यवस्था खड़ी करनी होगी. भूण्डलीकरण को पुनर्परिभाषित करना होगा और इसकी प्रक्रियाएं और व्यवस्थाएं पुनर्निर्धारित करनी होंगी. नयी विश्व अर्थव्यवस्था में असीमित उपभोग नहीं बल्कि आत्मसंयम अथवा मितोपभोग सार्वभौम मूल्य होगा. लेकिन यह इतना आसान नहीं होगा. इसके लिए संसाधनों के उपभोग के नये मानक बनाने होंगे, जिससे जुड़ा एक महत्वपूर्ण विषय उनके स्वामित्व का भी है. दूसरी ओर उत्पादन के तरीकों में भी बदलाव अनिवार्य होगा. उत्पादन की विकेंद्रित पद्धति को अधिक से अधिक प्रयोज्य और सम्भव बनाना होगा जिससे कि जनसंख्या और उत्पादन के बीच सही संतुलन बनाया जाये. समुदाय आधारित अर्थतंत्र की रचना कोई असम्भव विकल्प नहीं, इसके लिए आधुनिक तकनीक इस प्रकार प्रयुक्त हो कि जिससे सामाजिक पूंजी का निवेश हो, रोजगार सृजन हो तथा वित्तीय एवं पारिस्थितिकीय स्थिरता बनी रहे. सह-उत्पादों का भी पुनर्चक्रण अथवा प्रसंस्करण किया जा सके. ऐसे अर्थतंत्र की कल्पना गांधी जी, महर्षि अरविंद और जयप्रकाश नारायण जैसे विचारक कर चुके हैं. उनके बाद भी नब्बे के दशक से हमारे यहां किशन पटनायक और सच्चिदानंद सिन्हा जैसे चिंतक वैकल्पिक विकास की बात कहते रहे हैं. यही नहीं, यूरोप और अमेरिका में भी इस विषय पर पर्याप्त चर्चा हुई है. पहले तो नहीं लेकिन साठ का दशक आते-आते प्रचलित विकास और वृद्धि की अवधारणा को चुनौती दी जाने लगी. इसी समय 1968 में 'क्लब ऑफ रोम' की स्थापना हुई और उसके द्वारा समर्थित एवं प्रायोजित एम.आइ.टी. द्वारा संचालित शोध प्रबंध 'लिमिट्स ऑफ ग्रोथ' 1972 में प्रकाशित हुआ जिसमें उन पांच मूलभूत कारकों का अध्ययन किया गया जो कि अपनी अंत: क्रियाओं से इस ग्रह पर वृद्धि की सीमा बनाते हैं– जनसंख्या वृद्धि, कृषि उत्पादन, अनवीकरणीय संसाधनों का क्षरण, औद्योगिक उत्पादन तथा प्रदूषण-उत्पादन. शोधकर्त्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि इसी गति से आगे बढ़ते रहने पर हमारी विश्वव्यवस्था सन् 2100 के आगे तक नहीं चल सकेगी. जर्मन मूल के ब्रिटिश अर्थशास्त्री अर्नेस्ट फ्रेडरिक शुमाकर की एक महत्वपूर्ण पुस्तक 1973 में प्रकाशित हुई– 'स्मॉल इज़ ब्यूटीफूल : अ स्टडी ऑफ इकनोमिक्स ऐज इफ पीपुल मैटर्ड' जिसने 'बड़ा ही बेहतर' के विरुद्ध 'छोटा ही सुंदर' का विकल्प प्रस्तुत किया. इस पुस्तक में शुमाकर ने पश्चिमी अर्थव्यवस्था की स्थापनाओं को चुनौती देते हुए तकनीक की लघुता, उपयुक्तता और स्थानीयता का सिद्धांत खड़ा किया. शीतयुद्ध में उलझी और खेमों में बंटी दुनिया ने इन अमूल्य

वैचारिक पहलों की ओर ध्यान नहीं दिया, जो कि नयी मनुष्य एवं जीव संवेदी सभ्यता के लिए प्रस्थान बिंदु हो सकती थीं. आज इन पर नये सिरे से विचार करने की ज़रूरत है.

1990 में क्लब ऑफ रोम की पहल पर छपी अलेक्जेंडर किंग एवं बर्टेंड श्नाईडर की पुस्तक 'दि फर्स्ट ग्लोबल रिवॉल्यूशन' में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार भौतिक वृद्धि तथा असीमित उपभोग ने पर्यावरण प्रदूषण, भारी जनसंख्या वृद्धि, खाद्य एवं ऊर्जा की कमी का संकट तथा भू-राजनीतिक हलचलों जैसी वैश्विक समस्याओं को जन्म दिया है जिससे कि समूची विश्व व्यवस्था ही चरमरा रही है. हमारे चारों ओर जो द्रुत परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे वास्तव में विश्व सभ्यता के उत्तर-औद्योगिक समाज की ओर बढ़ने के संकेत हैं.

सन् 2009 में ब्रिटिश पारिस्थितिक अर्थशास्त्री टिम जैक्सन ने सस्टेनेबल डेवेलपमेंट कमीशन की मूल रिपोर्ट को परिवर्द्धित कर उसे एक पुस्तक रूप में प्रकाशित किया– 'प्रॉस्पेरिटी विदाउट ग्रोथ'. पुन: हाल ही में 2017 में इसका विस्तारित संस्करण भी प्रकाशित हुआ. इस पुस्तक में यह बात प्रमाणित करने की कोशिश की गयी है कि एक सीमा के बाद वृद्धि से मनुष्य समाज की खुशहाली नहीं बढ़ती. इसमें आर्थिक वृद्धि, पर्यावरणीय संकट और सामाजिक गिरावट के बीच के अंतर्संबंधों को उजागर करते हुए समृद्धि को पुनर्परिभाषित करने की ज़रूरत पर बल दिया गया है और उन कारकों को साक्ष्यों के रूप में प्रदर्शित किया है जो वास्तव में मानव-कल्याण, और आनंद में योग देते हैं. टिम जैक्सन ने 'कल की अर्थव्यवस्था' की एक नयी रूपरेखा बनायी है जिसकी ओर हमारा बढ़ना लगभग निश्चित है. उसका कहना है कि हम उद्यम को एक प्रकार का सामाजिक संगठन मानें, काम को समाज में सहभागिता मानें, निवेश को भविष्य की प्रतिबद्धता मानें और पैसे की भूमिका को एक सामाजिक अच्छाई मानें तो हम अर्थव्यवस्था को इस प्रकार बदल सकते हैं जिसमें रोज़गार की सुरक्षा हो, सामाजिक निवेश को प्रोत्साहन हो, असमानता कम हो और इन सबके साथ-साथ पारिस्थितिक एवं वित्तीय स्थिरता हो.

वास्तव में गहराई से देखा जाए तो कोरोना संकट यदि न आता तब भी विश्वव्यवस्था 'अर्थिक वृद्धि' की मरीचिका का पीछा करते-करते एक भयानक स्थिति तक आ ही पहुंची थी (है) जहां धरती की परत खोखली हो गयी थी, ओजोन की तह खुल गयी थी, हवा और जलराशि दूषित हो गयी थी, राष्ट्रों और व्यवस्थाओं की घातक स्पर्द्धाओं में संहार (आत्मघात) के सारे सामान जुटा लिए गये थे और एक मामूली-सी गलती या गलतफहमी भी दुनिया

को तबाह कर सकती थी. जलवायु संकट और ऐसे तमाम संकटों पर धुंआधार लेकिन प्राय: निष्फल चर्चाएं तो खूब होती रहीं और अंतरराष्ट्रीय सहयोग का दम भी भरा गया, लेकिन वास्तव में कार्बनजनित सुख-सुविधा में कोई भी देश किसी भी प्रकार की कमी लाने के प्रति प्रतिबद्ध नहीं था. नदियों, जलराशियों को स्वच्छ बनाने के लिए हजारों, लाखों करोड़ की परियोजनाएं बनीं, लेकिन उनका भी आशानुकूल परिणाम नहीं निकला. हमारे सामने जंगल नष्ट होते गये, प्रजातियों का विनाश होता गया, धरती के फेफड़े अमेजन वर्षा-वनों को भी साफ करने की सरकारों की बचकानी ज़िद सामने आयी. केवल जनसंख्या का विस्फोट ही नहीं हुआ, उपभोग-आकांक्षा का भी कई गुना वैश्विक विस्तार होता चला गया. यह साफ-साफ जानबूझ कर एक विभीषिका को न्योता देने जैसा था, कि इसी बीच एक अदृश्य सूक्ष्म जीव– एक वायरस, कोविड-19 मनुष्य जाति पर कहर बन कर टूट पड़ा, और इसने केवल चार महीनों में दुनिया बदल कर रख दी! इसके चलते वह सब सम्भव हो सका जो बड़ी से बड़ी सत्ताएं, लाख आर्थिक-तकनीकी संसाधन जुटाकर भी सम्भव नहीं कर सकीं, और विचार करना होगा कि इस परिप्रेक्ष्य में, इन अर्थों में क्या यह वायरस वरदान है? मनुष्य जाति की अतिशय सक्रियता ने इस ग्रह पर जीवन को ही संकटापन्न कर दिया है, इस वायरस ने उस पर रोक लगा दी– छह अरब से अधिक लोग अपने-अपने घरों में सिमट कर रह गये. बड़ी से बड़ी सत्ताओं को इसने धूल चटा दी. औद्योगिक सभ्यता की उपलब्धियों को न कुछ सिद्ध कर दिया. इसने उन्मत्त, अहमन्य मानव को जीवन की भंगुरता और अनिश्चितता का अनुभव कराया और यह जताया कि प्रकृति की दृष्टि में हर जीव की समान हैसियत है, कि मनुष्य भी अन्य 'तुच्छ' जीवों जितना ही मर्त्य है, नश्वर है. प्रकृति वह काम करती है जो देवता, मसीहा और पवित्र, पूजनीय धर्मशास्त्र भी नहीं कर पाते. प्रकृति ने सर्वजयी मनुष्य को उसने उसकी सीमा का भान कराया है.

उत्तर-कोरोना विश्व व्यवस्था का स्वरूप इस पर भी निर्भर करता है कि कोरोना ने इन चार महीनों में हमें किन विषयों में प्रशिक्षित किया है. स्वल्पता और मितोपभोग, यानी सीमित उपभोग का अभ्यास कोरोना काल का सबसे महत्वपूर्ण अनुभव है. कम सुविधाओं के साथ, आडम्बरों को परे रखकर जीना सम्भव है. इससे संसाधन बचते हैं, प्रकृति दोहन कम होता है, मनुष्य समाज की आपसी प्रतिस्पर्द्धा घटती है और असमानता घटती है, जिसके एवज में संघर्ष मंद पड़ते हैं; और इन सबके ऊपर या इनके फलस्वरूप धरती पर मनुष्य समाज ही नहीं, जीव मात्र की

उत्तरजीविता बढ़ती है.

स्वल्पता और आत्मनिग्रह जैसे सनातन भारतीय मूल्य गांधीवादी विचारों की मूल स्थापनाओं में शामिल हैं. स्वावलम्बन और विकेंद्रीकरण जैसी अवधारणाओं से जुड़कर ये विचार एक वैकल्पिक अर्थतंत्र का निर्माण करते हैं. देखना होगा, नयी दुनिया में उद्योग-व्यवस्था और उत्पादन तंत्र के पुनर्गठन में इन मूल्यों की कोई भूमिका होगी या नहीं.

जहां तक प्रौद्योगिकी और तकनीक का सवाल है, आने वाले समय में दुनिया अधिकाधिक डिजिटल होने वाली है. इसमें क्लाउड टेक्नोलॉजी तथा आर्टिफीशियल इंटेलीजेंस का महत्व और भूमिका भी बढ़ेगी. कोरोना-काल ने पूरे कामकाजी जीवन पर पुनर्विचार का अवसर भी दिया है. कार्य-स्थल, तथा काम के घंटों के सम्बंध में प्रचलित अवधारणाओं एवं व्यवहारों में बड़ा बदलाव आ सकता है. कार्य के दौरान बहुत से कार्यों में कामकाजियों की आपसी, भौतिक निकटता उतना अर्थ नहीं रखेगी, उनका 'डिजिटली कनेक्टेड' होना अधिक महत्वपूर्ण होगा. उत्पादन-उपभोग की अगर सीमा बंधी तो श्रमशक्ति पर उतना दबाव नहीं रह जाएगा जिसमें काम की लत वाले 'वर्केल्कोहलिक' पैदा हों. अगर काम समाज में सहभागिता के रूप में सचमुच देखा जाने लगेगा और मान्य हो जायेगा तो समाज में श्रम की स्थिति गुणात्मक रूप से बदल जायेगी. हमें आशा करनी चाहिए कि वर्तमान समय में मांग-आपूर्ति की प्रणाली को वापस बहाल करने के लिए श्रमशक्ति पर जो दबाव है, वह अल्पकालिक है.

अगर दुनिया भर के देश, विशेषकर वर्तमान में जो शक्तिशाली देश हैं, वे कोरोना के दौरान अपनी असहायता और प्रकृति के आत्मशोधन और परिष्कार की शक्ति से सीख लेकर इन बदलावों के लिए तैयार होते हैं, तो निश्चय ही यह पूंजीवाद से आगे के चरण में प्रस्थान की शुरूआत होगी. यहां उद्यमों, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का मामला भी सामने आयेगा. ऐसे में 'ट्रस्टीशिप' एक विकल्प के रूप में आजमाया जा सकता है, और अच्छी बात यह है कि इसकी उपयोगिता और प्रयोज्यता सार्वदेशिक है. आज की दुनिया में तकनीक ने 'विज्ञान सबके लिए' की परिकल्पना को बहुत हद तक सम्भव बना दिया है. आगे इसके उत्तरोत्तर अधिकाधिक जनोन्मुख होते जाने की भी सम्भावना है. ऐसे में यह असम्भव नहीं कि किसी प्रकार के 'सहभागी स्वामित्व' का विचार बने और उसे अमल में लाया जाए. एक और महत्वपूर्ण बात यह कि जब भी लघु उद्यमों (आज की तारीख में स्टार्ट-अप्स सहित) तथा स्वरोजगार की बात की जाती है, तो प्रकारांतर से इससे आर्थिक विकेंद्रीकरण का ही अभीष्ट सधता है.

कोरोना संकट के कारण भूमंडलीकरण बनाम स्थानिकीकरण, वैश्विक बनाम स्थानीय की बहस तेज़ हुई है. भारत सहित कई अन्य देशों में स्थानिकता के प्रति आग्रह बढ़ा है और आत्मनिर्भरता और स्वदेशी के मूल्यों के प्रति आकर्षण बढ़ा है. यदि यह आत्मसंकुचन दुनिया भर के देशों का स्थायी भाव बनता है तो इससे उत्पादन के परिमाण और रेंज या वैविध्य पर स्वत: असर पड़ेगा क्योंकि प्रथमत: हर देश पहले अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ही वस्तुओं का उत्पादन करेगा. देशी मांग और आपूर्ति से अर्थव्यवस्था संचालित होने लगेगी. उत्पादन तंत्र में ऐसी अंतर्मुखता से विश्व व्यापार की वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन निश्चित है. या तो भूमंडलीकरण-पूर्व की स्थिति में विश्व व्यापार चला जा सकता है, या फिर भूमंडलीकरण की वर्तमान प्रणाली को और लचीला और सर्वग्राह्य बनाया जा सकता है जिसमें सहयोग का भाव अधिक हो और स्पर्द्धा का कम. अंतरराष्ट्रीय सहयोग के कितने ही क्षेत्र हैं जिनपर काम करके दुनिया को बेहतर बनाया जा सकता है. कोविड जैसे वैश्विक संकट हमें वैश्विक आपदा प्रतिक्रिया प्रणाली के विकास का मार्ग भी सुझाते हैं. स्वास्थ्य और जीवन-रक्षा भी अंतरराष्ट्रीय सहयोग का एक बड़ा और अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र है.

श्रम-उत्पादन सम्बंध में बदलाव तथा आर्थिक सत्ता के विकेंद्रीकरण एवं इसके क्षैतिज प्रसार का प्रभाव सामाजिक जीवन और संगठन पर होना निश्चित है. कोविड-19 ने वैश्विक महामारी की स्थितियों में आस्था और धर्म की सीमाओं को उजागर कर दिया है. इसने यह भी सिद्ध किया है कि धार्मिक दुराग्रह ऐसी स्थितियों में कितने खतरनाक हो सकते हैं. इसने किसी भी तथाकथित, स्वयंभू 'श्रेष्ठ' प्रजाति, जाति, धर्म एवं आस्था, विचारधारा या नागरिकता को नहीं छोड़ा, सबको समान रूप से पीड़ित किया. इन आधारों पर किसी भी प्रकार का श्रेष्ठता-बोध व्यर्थ है, उल्टे यह प्रमाणित हो गया है कि मनुष्य जाति एक है– यह कोई आदर्श-कल्पना नहीं बल्कि यथार्थ है.

कोविड-19 ने विकेंद्रित सत्ताओं वाले मनुष्य समाज की आशा जगायी है. इसने उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के आदर्शवाद - सार्वभौमवाद-सार्वभौम मानव एकता को सम्भव बनाने के सूत्र दिये हैं. उत्तर-कोरोना समाज उत्तर-औद्योगिक समाज होगा. समूची मानव सभ्यता एक भारी, किंतु क्रमिक बदलाव के मुहाने पर खड़ी है. कोरोना ने जिस तरह हमारी आदिम वृत्ति, हमारे सहकार को तोड़ा है, उसे हम प्रपंच-बुद्धि से नहीं, बल्कि करुणाजनित श्रद्धाबुद्धि से ही बहाल कर सकते हैं. यह सही अर्थों में पहली वैश्विक क्रांति होगी जिसे एक सूक्ष्म वायरस ने सम्भव बनाया होगा. ❑
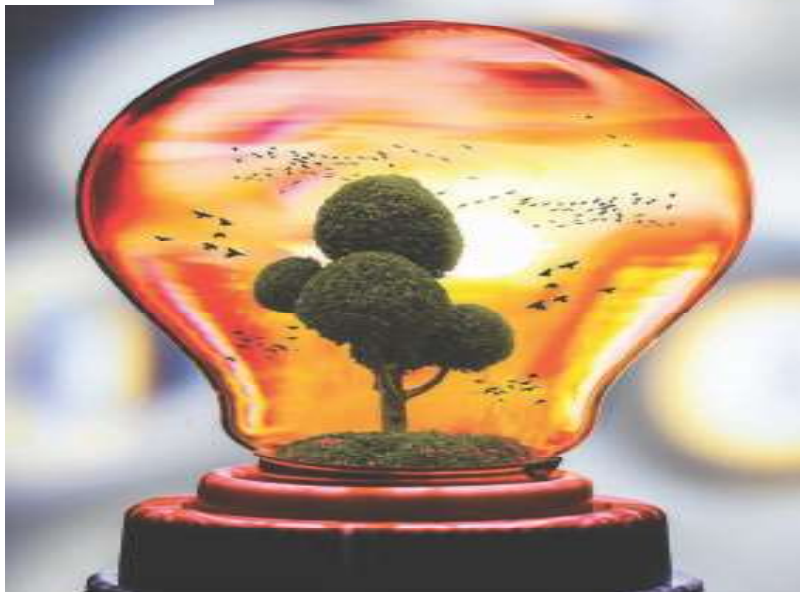
पेड़ ही हैं गर्म होते ग्रह की आखिरी उम्मीद

● ग्रीम पी बर्लिन

हमारे ग्रह के सम्पूर्ण जीवन के लिए पेड़ों के कई लाभ हैं. हमारे वायुमंडल में ऊंची जगह अख्तियार करके वे कार्बन सोखने और ऑक्सिजन छोड़ने में जुटे रहते हैं. यही वह प्रक्रिया है जो मनुष्य जैसे सभी वायु-निर्भर जीवों का जीवित रहना सम्भव बनाती है. उनकी जड़ें धरती में गहरे धंसी रहती हैं, जहां राइजोस्फेयर (सूक्ष्म जीवों वाला भू-स्तर) के आसपास से पोषक तत्व खींचकर वे उन्हें रिसाइकल करते रहते हैं. पेड़ धरती की ठोस सतह का तकरीबन एक तिहाई हिस्सा घेरे हुए हैं लेकिन फोटोसिंथेसिस की प्रक्रिया से पूरे ग्रह की कोई दो तिहाई कार्बन राशि के संग्रहण के लिए वे ही ज़िम्मेदार हैं. यह चमत्कार पेड़ों की पत्तियों द्वारा अंजाम दिया जाता है, जो इनके तनों और शाखाओं के साथ ही पर्यावरण में अपनी जगह बनाती हैं.

खास बात यह कि पेड़ों की पत्तियां अन्य ज़मीनी पौधों की तुलना में प्रति इकाई भू-क्षेत्रफल के अनुपात में कहीं ज़्यादा

सतह घेरती हैं. कार्बन संग्रहण के मामले में पेड़ों की इतनी बड़ी भूमिका होने का मुख्य कारण यही है. लेकिन मामले का एक और विशिष्ट पहलू पेड़ों का दीर्घ जीवन भी है. अपनी फोटोसिंथेसिस की प्रक्रिया में वे कार्बन डाईऑक्साइड से जो कार्बन सोखते हैं, वह उनके समूचे जीवनकाल में उनके भीतर ही जमा रहता है. जनसंख्या बढ़ने के कारण पैदा हुई तमाम ज़रूरतों के चलते जब हम पेड़ काटते हैं तो कार्बन जमा करने के इतने बड़े ठिकानों से हाथ धो बैठते हैं. इसीलिए शहर, पार्क और जंगली इलाकों में जहां जिस भी प्रजाति के पेड़ उपयुक्त हों, जहां वे ठीक से फल-फूल सकें, वहां हमें इनको लगाना जारी रखना चाहिए.

गिफोर्ड पिंचोट ने सोलन ग्रेव्ज के साथ मिलकर येल यूनिवर्सिटी फॉरेस्ट्री स्कूल की स्थापना की थी. वे एक जगह कहते हैं, 'जंगलों का प्रबंधन दीर्घकालिक रूप से अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए.' एक स्वस्थ ग्रह का जीवित रहना निश्चय ही 'अधिकतम भलाई' के कामों में से एक है. और भलाई के इस चक्र में पेड़ों की पत्तियां धरती की ऊर्जा का केंद्रीय तत्व हैं. ये आपस में मिलकर पेड़ों का शिखर बनाती हैं और पेड़ों के शिखर मिलकर जंगल की कैनोपी (चंदोवा) को आकार देते हैं. यह कैनोपी एक सतह वाली भी हो सकती है, और कई सतहों वाली भी हो सकती है. यह इस पर निर्भर करता है कि जंगल में पेड़ों की कौन-कौन सी प्रजातियां हैं और उनमें पेड़ों की संख्या कितनी है. कैनोपी और वन में इससे ऊपर जाने वाले और नीचे रह जाने वाले पेड़-पौधे एक जटिल पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करते हैं, जिसकी हर परत में उस पर निर्भर असंख्य जीव-जंतु रहते हैं, जैसे कीट-पतंगे, पक्षी, स्तनपायी और दूसरे जीव. ये पेड़ों और जंगलों की जैव विविधता को और बढ़ाते हैं. कैनोपियों का रहना यह भी बताता है कि किस तरह जंगल वातावरण से नाइट्रोजन जुटा लेते हैं और बिना किसी उर्वरक के पूरी शान से जीवित रहते हैं. इसके विपरीत खेती के काम आने वाले मैदान बार-बार अपनी नाइट्रोजन गंवा देते हैं और उत्पादन के लिए उन्हें खाद की ज़रूरत पड़ती रहती है. कई फलीदार और गैर-फलीदार पेड़ सूक्ष्मजीवियों (राइजोबिया, फ्रैंकिया) के साथ सहजीविता का सम्बंध कायम करके अपने लिए सीधे वातावरण से नाइट्रोजन का जुगाड़ कर लेते हैं. यह प्रकृति की एक और अद्‌भुत व्यवस्था है.

जंगल खुद अपने वातावरण को सुधारते भी रहते हैं. 1930 के दशक में अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने धूल का कटोरा कहे जाने वाले उत्तरी डकोटा से टैक्सस के इलाके

में वायुरोधी वन लगाना शुरू किया ताकि सतह की मिट्टी को उड़ने से रोका जा सके. इसमें असल भूमिका पेड़ों की चोटियां निभाती हैं. जाड़ों में जंगल में गर्मी महसूस होती है क्योंकि हवा कम चलती है. लेकिन गर्मियों में जंगल ठंडे रहते हैं क्योंकि पेड़ों के शिखर वनभूमि को ढककर उसे सूर्य के सीधे विकिरण से बचाते हैं. यह चीज़ बर्फ पिघलने के मामले में भी देखी जाती है, जो खुले मैदानों और चरागाहों में पहले पिघलती है और यहां के जानवरों को भी प्रभावित करती है. पेड़ पिछले करीब 40 करोड़ वर्षों से पृथ्वी पर हैं जबकि इंसानों की सबसे पुरानी जड़ भी महज 10 करोड़ साल पुरानी है. किसी समय यहां कोनिफर्स (शंकु वृक्ष) और अन्न जिन्नस्पर्म (अनावृतबीजी वृक्ष) की बहुलता थी. लेकिन क्रिटेशस युग में फूल वाले पौधों का उद्‌भव हुआ और वे आज पृथ्वी की प्रमुख वनस्पति हैं. जिम्नस्पर्म समूह के ज़्यादातर पेड़-पौधे विलुप्त हो गये. कई वृक्ष प्रजातियां तो बिल्कुल हाल में विलुप्त हुई हैं. उदाहरण के लिए अमेरिकी चेस्टनम (छोटा अखरोट) एक समय उत्तर-पूर्वी अमेरिका के जंगलों में छाये हुए थे, पर चेस्टनर ब्लाइट नाम की एक फफूंद ने इस उत्कृष्ट और उपयोगी प्रजाति का लगभग पूरी तरह सफाया कर डाला.

कितनी प्यारी कविता

मेरा अपना प्रिय पेड़ रेडवुड है. इसका काफी फैलाव जलवायु परिवर्तन, कीड़ों-मकोड़ों तथा बीमारियों की भेंट चढ़ गया. ये पेड़ बहुत जल्दी बड़े होते हैं और लम्बे समय तक जीवित रहते हैं. ब्रिस्टलकोन पाइन जैसे पेड़ भी दीर्घजीवी होते हैं. पर वे धीरे-धीरे बढ़ते हैं. इसके विपरीत रेडवुड के पेड़ अपनी पत्तियों और ढांचे में बदलाव करते हुए हर हाल में बढ़ते रहते हैं. नुकसान होने की स्थिति में वे खुद अपनी बनावट भी दुरुस्त कर लेते हैं. सिएरा नेवादा के पहाड़ों में स्थित विशाल रेडवुड के जंगलों से गुजरना मेरे लिए हमेशा विस्मयकारी अनुभव होता है. यहां विज्ञान अपने भव्य रूप में सक्रिय नज़र आता है. फिर भी जब मैं यहां से गुज़र रहा होता हूं तो मुझे जॉइस किल्मर के शब्द याद आते हैं– 'मुझे लगता है कि ऐसी कविता मैं कभी नहीं देख पाऊंगा, जो पेड़ जितनी प्यारी हो.'

लेखक येल यूनिवर्सिटी में वन प्रबंधन और वृक्ष क्रियाशास्त्र के प्रोफेसर हैं.

नदी का स्वप्न

हर नदी का स्वप्न खुद को सागर को सौंपना होता है. हर नदी चाहती है कि वह समुद्र तक पहुंचे. पर अपने इस स्वप्न के बावजूद वह राह में मिले गड्‌ढों को भरना नहीं छोड़ती– फिर चाहे वह समुद्र तक पहुंचे या नहीं.

– विनोबा भावे

लौट चलो प्रकृति की ओर

● विजयदत्त श्रीधर

समाचार पत्रों में, सोशल मीडिया पर ऐसी तस्वीरों का तांता लगा है जिनमें नदियों में, झीलों में, तालाबों में निर्मल जल दिख रहा है. 'हर की पैड़ी' में बीसियों साल बाद गंगा का पानी इतना साफ है कि तलहटी के कंकर-पत्थर नजर आ रहे हैं. मध्यप्रदेश की जीवन-रेखा नर्मदा साफ-सुथरी बह रही है. देश भर में लगभग यही स्थिति है. नदियों में, तालाबों में, झीलों में, झरनों में, कुंओं में पानी की मात्रा बढ़ी है. भू-जल स्तर भी बढ़ा है. पानी में ऑक्सीजन बढ़ी है. पवित्र नदियों का जल आचमन करने योग्य हो गया है. तात्पर्य यह कि जल स्रोतों में औद्योगिक कचरा, रासायनिक अवशिष्ट और बसाहटों की गंदगी का बोझ घटा है तो प्रदूषण का प्रकोप भी सिमटा है. आधुनिक खेती का रसायन भी तो जल-प्रदूषण का एक कारण है. भूजल भी प्रदूषित हुआ है.

समाचार है कि दिल्लीवासियों को न जाने कितने साल बाद आकाश में चमकते तारे दिखने लगे हैं. इसे उल्लेखनीय परिघटना मानते हुए अमेरिका के प्रमुख अखबार 'न्यूयार्क टाइम्स' ने बाकायदा लेख छापा है. पंजाब से खबर आयी है कि जालंधर वालों की छतों से सुदूर हिमालय की बर्फीली चोटियां नजर आने लगी हैं.

वाहनों की रेलमपेल ठप है तो

वायुमण्डल साफ है. कल-कारखानों की चिमनियां भी ज़हरीला धुंआ नहीं छोड़ रही हैं. शुद्ध हवा मिल रही है. शोर-शराबा थमा है तो ध्वनि प्रदूषण से भी निजात मिली है.

सबसे ज़्यादा आनंद विभोर करने वाला दृश्य गांव-गांव शहर-शहर घर-आंगन में देखने को मिल रहा है. कलरव करते अठखेलियां भरते रंग-बिरंगे सुंदर पंछी हमारे बीच लौट आये हैं.

इस बीच कठोर सवाल सामने है कि ये सुखद संयोग आखिर कब तक टिकेंगे? लॉकडाउन हटेगा. उद्योग-धंधे-खेती-परिवहन सबके बंद कपाट खुलेंगे. वे तमाम हलचलें फिर जोर पकड़ेंगी जो प्रकृति को विनाश के शिकंजे में जकड़ती हैं. विकास का दानव निसर्ग की नियामतों पर कहर ढाने लगेगा. कोरोना संकट का यह सबक भुला दिया जायेगा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी प्रकृति के विकल्प नहीं हैं. ये प्रकृति के क्षरण की भरपाई नहीं कर सकते. इनका दम्भ व्यर्थ है. जीवनदायिनी तो प्रकृति ही है.

महात्मा गांधी ने पश्चिम की सभ्यता को राक्षसी सभ्यता कहा है. सच ही कहा है. जिसे प्रगति और आधुनिकता कहा जाता है, सुखोपभोग की कसौटी माना जाता है, दरअसल वह प्राणी और प्रकृति के लिए भांति-भांति के संकटों का आत्मघाती आमंत्रण है. गांधीजी ने चेताया है– 'पृथ्वी हर व्यक्ति की ज़रूरत पूरी कर सकती है, पर उसके लालच को नहीं.' गांधीजी भारत की प्रकृति-पोषक संस्कृति के अनुगामी थे. अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में कहा गया है– हे धरती मां! जो कुछ मैं तुझसे लूंगा वह उतना ही होगा जिसे तू पुन: उत्पन्न कर सके. तेरे मर्मस्थल पर या तेरी जीवनी शक्ति पर कभी आघात नहीं करूंगा.' पश्चिमी सभ्यता प्रकृति का दोहन नहीं; शोषण करती है; नाश की सीमा तक. विकास का जो मॉडल हमने अपनाया है, उसमें मनुष्य या प्रकृति के लिए वरीयता नहीं है.

राजेंद्र रंजन चतुर्वेदी की फेसबुक पोस्ट में इस कथित विकास को ठीक-ठीक पहचाना गया है–

- वह विकास, जिसका सूत्रधार विश्व बाज़ार है.
- वह विकास और वह बाज़ारवाद, जिसका परम सत्य-जीवन का अंतिम प्रयोजन-मुनाफा है.
- वह विकास, जहां मनुष्य मुनाफे के लिए जीता है.
- वह विकास जिसके लिए धनी आदमी उपभोक्ता और निर्धन आदमी साधन है तथा यह समस्त प्रकृति (नदी-समुद्र-पहाड़-जंगल) कच्चा माल है.
- केवल भारत का ही सवाल नहीं है, संसार की सुख-शांति का सवाल है. क्योंकि यह विकास धरती के प्राकृतिक

संसाधनों की लूट से जुड़ा हुआ है.

तब विकल्प क्या हैं? वक्त का तकाज़ा है कि प्रकृति के विरुद्ध की जाने वाली करतूतों और उसकी मानसिकता से दुनिया उबरे. फर्जी सुख-साधनों के पीछे भागना बंद करे. एक वीडियो क्लिप ने बड़ी सरलता से इसे समझाया है. इसमें भाष्यकार कहता है– 'हम धोखे में थे कि हम पृथ्वी को बचा सकते हैं. प्रदूषण कम कर सकते हैं. अब पता चला कि अगर इंसान टांग न अड़ाए तो धरती तेज़ी से खुद को 'हील' करती है. हम धोखे में थे कि जंक फूड के बिना ज़िंदा नहीं रह सकते. सारे रेस्तरां बंद हैं, दुनिया तब भी चल रही है. हम धोखे में थे कि फिल्मी सितारे और क्रिकेटर असली हीरो हैं. अब पता चला कि वे केवल मनोरंजनकर्ता हैं. हम धोखे में थे कि तेल (डीजल, पेट्रोल) बहुत कीमती चीज़ है. अब पता चला कि हमारे बिना तेल की कोई कीमत नहीं. हम धोखे में थे कि शॉपिंग मॉल बंद हो जाएंगे तो दुनिया रुक जाएगी. लेकिन दुनिया अब भी चल रही है. हम धोखे में थे कि कोई ज्योतिष, कोई मौलवी, कोई पंडित, कोई प्रीस्ट बीमारों की जान बचा सकता है. लेकिन ये कोई काम नहीं आ रहे.

वास्तविकता यह है कि लॉकडाउन से असली ज़िंदगी को कोई फर्क नहीं पड़ा. जो फर्क पड़ा वह नकली ज़िंदगी को पड़ा है. फिजूलखर्ची बंद हो गयी. हम परिवार के साथ समय बिता रहे हैं. बच्चे आंगन में खेल रहे हैं. मुर्गियां अब भी अंडे दे रही हैं. सब्जियां अब भी हो रही हैं. फूल अब भी खिल रहे हैं. गाय अब भी दूध दे रही है. आपके घरों तक पहुंच भी रहा है. नदियां अब भी बह रही हैं. बल्कि पहले से ज़्यादा साफ बह रही हैं.'

सयाने कहते आये हैं कि वक्त की लाठी में आवाज़ नहीं होती. मार गहरी पड़ती है. यह सबक कोरोना ने सिखा दिया है. अमेरिका, यूरोप, चीन आदि के पास परमाणु हथियारों का जखीरा है. भांति-भांति के उपकरण और मशीनें हैं. विमान और जहाज हैं. हवा से भी तेज़ चलने वाली रेलगाड़ियां हैं. लेकिन सब निरर्थक. सबसे ज़्यादा ताकतवर और सबसे ज़्यादा विकसित कहे जाने वाले देशों में कोरोना से आयी मौत का बवंडर सबसे ज़्यादा है.

आठ अक्टूबर 1946 को दिल्ली में चरखा संघ की बैठक में गांधीजी ने अंतरिम सरकार के मंत्री और अ.भा. चरखा संघ के अध्यक्ष से कहा था– 'राजेंद्र बाबू, गांव मत उजाड़ना.' महात्मा गांधी चाहते थे कि ग्राम स्वराज को केंद्र में रखकर नीतियां बनें और चलें. वे गांव को आत्मनिर्भर इकाई बनाना चाहते थे. ऐसा गांव जहां किसानों और मजदूरों के पास आमदनी का अतिरिक्त जरिया हो. हस्तशिल्प और कुटीर उद्योग को गांधी जी इसी रूप में

देखते थे. शिक्षा, चिकित्सा जैसी बुनियादी सुविधाएं ग्राम स्वराज का हिस्सा थीं. दरअसल, वे गांव से शहरों की ओर पलायन को रोकना चाहते थे. कोरोना संकट में देश के कोने-कोने से सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में अपने घरों को लौटते बदहवास मजदूरों को देखकर गांधीजी की सोच की अहमियत समझ आ रही है. दुर्भाग्य से हमारी सरकारों ने सत्तर साल में इसे नहीं समझा. नहीं माना.

गांवों में रोजी-रोजगार के साधन होंगे, शिक्षा और चिकित्सा की अच्छी सुविधाएं होंगी तो गरीबों के दरबदर होने की विवशता नहीं होगी. शहरीकरण से कोई भला तो होता नहीं, उल्टे नारकीय जीवन का अभिशाप बढ़ता है. स्मार्ट सिटी जैसे आडम्बर भी बंद होने चाहिए. गांवों के कायाकल्प के लिए नरेगा जैसी श्रम आधारित योजनाओं का सदुपयोग किया जाए. गांव-गांव में मौजूद तालाबों, कुंओं को पुनर्जीवित किया जाये. नदी-नालों को सदानीरा बनाने के उपाय किये जाएं. प्रकृति चिंतक अमृतलाल वेगड़ चुटकी लेते थे– 'जब हम असभ्य थे तब हमारी नदियां स्वच्छ थीं. जब हम सभ्य हुए, नदियां मैली हो गयीं.'

हरियाली का विनाश देशव्यापी संकट है. पहले मार्गों के किनारे छायादार, फलदार वृक्ष हुआ करते थे. गांवों में बगीचे रहते थे. कई ग्रामों के वन भी होते थे. नरेगा का सदुपयोग ग्राम वन विकसित करने और गांवों के आसपास बच रहे वनों को बचाने-संवारने में किया जा सकता है. सड़कों को फिर हरी-भरी छांव लौटाई जा सकती है. इन उपायों को सामाजिक दायित्व के रूप में अपनाया जाए. सरकारी योजनाओं की तरह नहीं. स्थानीय कौशल पर आधारित कुटीर उद्योगों और हस्तशिल्पों को बढ़ावा और संरक्षण दिया जा सकता है. ऐसी वस्तुओं के लिए उद्योगों-कारोबारियों को अनुमति न हो.

जीवनशैली में भारतीयता

हमारे खान-पान, रहन-सहन पर पश्चिमी फैशन का प्रभाव एक तरह से जड़ों से काट देने वाला है. भारतीय संस्कृति में सादगीपूर्ण जीवन और शाकाहार का महत्व है. शाकाहार और योग शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास करते हैं. कोरोना का एक सबक यह भी है कि हमारी जीवन शैली में पुन: भारतीय आचार-विचार का समावेश हो. जंक फूड और कोल्ड ड्रिंक्स से निजात पायें. मांसाहार और मदिरा तथा नशीले पदार्थों का परित्याग करें. बोतलबंद पानी को न कहें. सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक समारोहों की भीड़-भाड़ से बचें. बल्कि भीड़ का हिस्सा नहीं बनने का संकल्प लें. महावीर-बुद्ध-नानक-गांधी की सीखों को जीवन में उतारें. यही हमारी सुरक्षा के उपाय हैं. असली सुख भी इसी में है. ❑

जल है तो कल है

● संजय भारद्वाज

(लगभग 10 पात्रों का समूह. समूह के प्रतिभागी अलग-अलग समय, अलग-अलग भूमिकाएं निभाएंगे. इन्हें क्रमांक 1, क्रमांक 2 और इसी क्रम में आगे सम्बोधित किया गया है. सुविधा की दृष्टि से 1, 2, 3... लिखा है.)

(पथ के एक ओर से समूह का गाते बजाते नाचते आना. '...घनन घनन घिर घिर आये बदरा. घन घनघोर छाये बदरा.' दो या तीन पात्र गा रहे हैं. सम्भव हो तो एक या दो पात्र वाद्य बजाएं. शेष बारिश में भीगने का अभिनय कर रहे हैं.)

(एकाएक समूह का एक पात्र आगे आता है. वह तेज़ी से चक्र घुमाने का अभिनय करता है. गायन, वादन, नृत्य करते सभी पात्र अपने स्थान पर स्थिर मुद्रा में खड़े हो जाते हैं.)

(अब हर पात्र अलग-अलग भूमिका निभाना आरम्भ करेगा.)

1. अखबार विक्रेता– आज की ताज़ा खबर, आज की ताज़ा खबर. शहर में पानी की बोतलों की चोरी बढ़ी. पानी की चोरी बढ़ी.

2. भोर समाचार- भोर समाचार- अब घर में भी सुरक्षित नहीं पानी की बोतल. घर में भी सुरक्षित नहीं पानी.

3. समाचारवाचक- नमस्कार. प्रस्तुत हैं शहर में घटी मुख्य घटनाएं. शहर के पश्चिमी भाग से कल देर रात पानी की 17 बोतलें चोरी हो गयीं. एक रोज पहले ही दक्षिणी भाग से 19 बोतलें चोरी हुई थीं. सूत्रों के अनुसार सप्ताह भर में शहर से पानी की कुल 216 बोतलें चोरी हुई हैं. इन घटनाओं को लेकर आम जनता में भारी रोष है.

4. क्रॉनिकल न्यूज़- बड़ी खबरें- शहर में पेयजल को लेकर दो गुटों ने जमकर बवाल काटा. हुआ यूं कि पानी की सरकारी दुकान में पानी की केवल 7 बोतलें बची थीं. दोनों पक्षों का कहना था कि दुकान पर पहले वे पहुंचे थे, इसलिए पानी उनको मिलना चाहिए.

5. अरे सुनती हो, अखबार में लिखा है कि कल पड़ोस की कॉलोनी में ज़रूरत से ज़्यादा पानी संग्रह करने के आरोप में पानी इंस्पेक्टर ने 4 घरों का चालान काटा है. हमारे पास अतिरिक्त पानी तो नहीं है ना?

6- वृद्ध क्र.1 - क्या ज़माना आ गया है! हमारे समय में भुखमरी से किसी का मरना तो सुनते थे, अब तो 'प्यासमरी' से लोग मर रहे हैं.

7- वृद्ध क्रमांक 2 - रोटी नहीं होने पर पानी पीकर कुछ वक्त गुजारा हो जाता था, अब तो पानी भी मयस्सर नहीं.

8- इंटरनेट समाचार- पानी की तस्करी कर रहे गिरोह के एक टेंपो को कल इलाके के लोगों ने धर दबोचा. टेंपो में 20 लीटर क्षमता वाले पानी से भरे तीन कैन मिले. पुलिस के पहुंचने से पहले दो कैन का पानी भीड़ ने लूट लिया था. छीना-झपटी में तीसरा कैन फट गया जिससे उसमें रखा पानी बहकर बर्बाद हो गया. बाज़ार में इस पानी का मूल्य लगभग साठ हज़ार रुपये है.

9- *(चक्रवाले लड़के से)*- तुम कौन हो? हम सबको यह क्या दिखा रहे हो?

10- मैं समय हूं. 50 वर्ष आगे की तस्वीरें दिखा रहा हूं. तस्वीर समाप्त होते जल की, तस्वीर अंत की ओर बढ़ते कल की.

1- अंत की ओर बढ़ता कल?

10- हां, जब नहीं होगा जल तब कैसे बचेगा कल?

2- क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं? क्या कोई हल नहीं इसका.

10- सही उत्तर पाने के लिए पहले प्रश्न को समझना ज़रूरी होता है.

3- मतलब?

10- मतलब यह कि पहले समझना होगा कि यह समस्या क्यों जन्मी? समस्या की जड़ तक पहुंचेंगे तभी हल की कुंजी मिलेगी.

4- समय, क्या तुम बता सकते हो कि यह समस्या क्यों जन्मी?

10- मेरे पूर्वज बताते हैं, एक समय था जब हर तरफ हरियाली थी. पृथ्वी मानो बादलों से ढकी थी. पहाड़ों पर बादलों से धाराएं उतरती थीं. झरने धाराप्रवाह बहते थे. नदियां उफान मारती थीं. छोटे-बड़े

प्राकृतिक जलाशय पानी भरकर रखने के लिए धरती के बारहमासी बर्तन थे.

(दो-तीन पात्र समवेत स्वर में दोहराएंगे- हर तरफ हरियाली थी...पृथ्वी मानो बादलों से ढकी थी...पहाड़ों पर बादलों से धाराएं उतरती थीं... ...झरने धाराप्रवाह बहते थे... नदियां उछाल मारती थीं...छोटे बड़े प्राकृतिक जलाशय पानी भरकर रखने के लिए धरती के लिए बारहमासी बर्तन का काम करते थे...)

(शेष पात्र इन वाक्यों को मूक अभिनय द्वारा दर्शाएंगे.)

5- फिर क्या हुआ?

10- यह मानव के आदिम रूप की अंतिम सदी थी. आदमी अब एक जगह टिकने लगा था. उसका परिवार पनपने लगा था.

6- उसे लगा परिवार का पेट पालने के लिए खेती करनी चाहिए.

7- खेती के लिए चाहिए था पानी.

8- उसने तलाशी नदियां.

9- नदियों के आसपास चुनी जगह. उठाया कुदाल, चलाया हल, सपाट की माटी, सपाट की माटी, शुरू की खेती.

समवेत- उठाया कुदाल...चलाया हल... सपाट की माटी...बोये बीज...शुरू की खेती.

(कुछ पात्र इन वाक्यों को मूक अभिनय द्वारा प्रदर्शित करेंगे.)

10- पर हर एक इतना भाग्यवान नहीं था. कुछ को वहां खेती करनी पड़ी जहां आसपास नदी नहीं थी.

1- आदमी ने बुद्धि का प्रयोग किया. विचार किया कि बारिश का पानी मिट्टी में समाता है. इसका मतलब है कि धरती में पानी होता है.

2- धरती से पानी हासिल करने के लिए उसने खुदाई शुरू की. कुएं खोदे.

समवेत- उसने खुदाई शुरू की...कुएं खोदे.

(मूक अभिनय द्वारा कुछ पात्र दृश्य उपस्थित करते हैं.)

3- फिर क्या हुआ?

4- कुएं से भूजल खींचकर उसने फसलों की सिंचाई शुरू की. उसके खेत हरे हो गये.

5- फसल लहलहाने लगीं. खेतों में दाने झूमने लगे. दाने खाने के लिए पंछी आने लगे.

समवेत- फसले लहलहाने लगीं...खेतों में दाने झूमने लगे...दाने खाने के लिए पंछी आने लगे. *(मूक अभिनय द्वारा दृश्य की निर्मिति कुछ पात्र करेंगे.)*

6- अब गांव तेज़ी से बसने लगे. गांव में मोहल्ले बनने लगे. हर मोहल्ले का अपना कुआं होने लगा.

7- पानी का उपयोग बढ़ा. आदमी रस्सी और बाल्टी की मदद से खींचकर घर में भरकर रखने लगा पानी.

8- फिर हुआ बिजली का आविष्कार.

9- बिजली ने आदमी का जीवन ही बदल

दिया.
10- बिजली से घरों में लट्टू जलने लगे.
1- फिर धरती से पानी खींचने वाली मोटर बनी और बिजली से चलायी जाने लगी.
2- पानी से बनी बिजली.
3- बिजली ने चलायी मोटर.
4- मोटर और पम्प से शुरू हुआ बोरवेल.
5- धरती के गर्भ में उतरकर बोरवेल टटोलने लगा पानी.
6- हजारों लीटर पानी धरती से बाहर लाया जाने लगा.
7- आदमी बौरा गया.
8- आदमी खींचने लगा पानी.
9- आदमी फेंकने लगा पानी.
10- पानी बेचने लगा पानी.
समवेत- आदमी बेचने लगा पानी...आदमी फेंकने लगा पानी...आदमी बेचने लगा पानी. (कुछ पात्र खींचने, फेंकने, बेचने को मूक अभिनय द्वारा दर्शाएंगे.)
1- आदमी का लालच बढ़ा.
2- पहले जिसके पास जो उपलब्ध था, उससे उसका गुजारा हो जाता था. समाज में बार्टर पद्धति चलन में थी.
3- बार्टर याने क्या?
4- याने वस्तु विनिमय, अदल-बदल या प्रतिदान.
5- किसी के पास बाजरा था, किसी के पास चावल.
6- थोड़ा बाजरा देकर पहला चावल ले लेता. थोड़े चावल से दूसरा बाजरा पा जाता.
7- प्रकृति की सोच के केंद्र में आदमी था. आदमी की सोच के केंद्र में पैसा पैर ज़माने लगा.
8- पहले परती खेती थी. आधा खेत जोता जाता, आधा परती या बिना उपयोग के रखा जाता.
9- अगले साल परती वाला भाग जोता जाता, दूसरा खाली रखा जाता.
10- अब दोनों भाग जोते जाने लगे.
1- आदमी की लिप्सा और बढ़ी.
2- पहले खाद के लिए वह गोबर इस्तेमाल करता था. सूखे पत्ते इस्तेमाल करता था.
3- टहनियां उपयोग में लाता था प्राकृतिक अपशिष्ट उपयोग में लाता था.
4- अब वह धरती की कोख में उतारने लगा जहर.
5- ज़हर घातक रासायनिक खाद का.
6- इस ज़हर से मिट्टी में रहने वाले कीड़े-मकोड़े मरने लगे.
7- इस ज़हर से मरने लगे फसल के लिए लाभदायक केंचुए और बैक्टीरिया.
समवेत- वह धरती की कोख में उतारने लगा ज़हर... ज़हर घातक रासायनिक खाद का... इस ज़हर से मिट्टी में रहने वाले कीड़े-मकोड़े मरने लगे...इस ज़हर से फसल के लिए लाभदायी केंचुए और बैक्टीरिया मरने लगे. (कुछ कुछ पात्र इन वाक्यों पर मूक अभिनय करेंगे.)

8- घातक रसायन भूजल में मिलने लगा.
9- पानी दूषित होने लगा.
10- आदमी तब भी न संभला, न रुका.
1- पहले उद्योग कुटीर थे.
2- पहले उद्योग पर्यावरण स्नेही थे.
3- कलपुर्जे हाथ से बनाये जाते थे.
4- कलपुर्जे हाथ से चलाये जाते थे.
5- अब मशीनें कलपुर्जे बनाने लगीं.
6- अब बिजली कलपुर्जे चलाने लगी.
7- औद्योगिक अपशिष्ट बड़ी मात्रा में निकलने लगा.
8- लालची आदमी कोई प्रक्रिया किये बिना इसे सीधे नदियों में बहाने लगा.
9- बहता पानी रुकने लगा, सड़ने लगा.
10- मछलियां और जलचर मरने लगे.
1- आदमी का जीवन थमने लगा.
2- दूषित जल से आदमी बीमार पड़ने लगा.
समवेत- बहता पानी रुकने लगा... सड़ने लगा... मछलियां और जलचर मरने लगे... आदमी का जीवन थमने लगा... दूषित जल से आदमी बीमार पड़ने लगा.
(कुछ पात्रों द्वारा समवेत वाक्यों को मूक अभिनय द्वारा दर्शाया जाएगा.)
3- तन की बीमारी जल्दी ठीक हो सकती है, मन के इलाज में समय लगता है.
4- लालच और लापरवाही के रोगी आदमी ने अमूल्य पानी का मूल्य समझा ही नहीं.
5- पानी प्राकृतिक संसाधन है, इसे तैयार नहीं किया जा सकता.
6- इसे रिसाइकिल करना होता है.
7- जल के स्रोतों को रिचार्ज करना होता है.
8- धरती का तीन-चौथाई हिस्सा पानी से घिरा है.
9- पर उपलब्ध पानी का केवल एक प्रतिशत उपयोग के योग्य है.
10- इस एक प्रतिशत पर मनुष्य के अलावा वनस्पति, पशु, सिंचाई, उद्योग भी निर्भर हैं.
1- बारिश के माध्यम से प्रकृति पानी का उपहार देती है.
2- पानी का समुचित संरक्षण हम नहीं कर पाते.
3- पानी का समुचित संचयन हम नहीं कर पाते.
4- बारिश का अधिकांश पानी नदी, नालों से होकर खारे समुद्र में जा मिलता है.
5- अच्छी बरसात के लिए चाहिए पहाड़ और जंगल.
6- आदमी ने काट दिये जंगल.
7- बादल रुकना बंद हो गये.
8- आदमी ने पाट दिये पहाड़.
9- बादल बरसना बंद हो गये.
10- आदमी ने सुखा डाले ताल तलैया.
1- बादल भी सूख गया भैया.
2- आदमी की लापरवाही बढ़ती गयी.
3- बरसात लगातार घटती गयी.
समवेत- आदमी ने काट दिये जंगल...बादल रुकना बंद हो गये...आदमी

ने पाट दिए पहाड़... बादल बरसना बंद हो गये...आदमी ने सुखा डाले ताल तलैया...बादल भी सूख गया भैया ...आदमी की लापरवाही बढ़ती गयी... बरसात लगातार घटती गयी....

(समवेत वाक्यों पर कुछ पात्रों द्वारा मूक अभिनय किया जायेगा.)

4- घरों में पाइपलाइन से आने लगा पानी.

5- पानी के प्राकृतिक स्रोत उपेक्षा के शिकार हो चले.

6- जनसंख्या का विस्फोट बढ़ता गया.

7- भूजल का स्तर घटता गया.

8- कभी चक्र बनाया है..?

9- एक भी बिंदु ना हो तो चक्र खंडित हो जाता है.

10- आदमी ने जगह-जगह खंडित कर दिया जलचक्र.

समवेत- एक भी बिंदु ना हो तो चक्र खंडित हो जाता है...आदमी ने जगह-जगह खंडित कर दिया जलचक्र.

(उपरोक्त वाक्यों को कुछ पात्र मूक अभिनय से दर्शाएंगे.)

समवेत- घटता जल, संकट में आज-संकट में कल. घटता जल, संकट में आज-संकट में कल.

10- याद रहे, जल है तो कल है.

समवेत- जल है तो कल है...जल है तो कल है.

10- याद रहे, समस्या है तो हल है.

समवेत- समस्या है तो हल है...समस्या है तो हल है.

1- जल्दी बताओ हल.

2- हां बताओ हल.

समवेत- बताओ हल.

3- किसी अंकुर से पौधा जन्मते देखा है?

4- किसी पौधे से पेड़ पनपते देखा है?

5- पौधे को विशाल पेड़ बनने में 15 से 20 साल लग जाते हैं.

6- बड़ा होने में 20 साल लेने वाला पेड़ मशीन से कुछ मिनटों में ही धराशायी किया जा सकता है.

7- कहना क्या चाहते हो?

10- विनाश सरल है, निर्माण कठिन.

8- हम क्या करें? हमें रास्ता दिखाओ.

समवेत- हम क्या करें...हमें रास्ता दिखाओ.

9- आरम्भ करना होगा.

1- आरम्भ करना होगा आज से अभी से.

2- पौधे उगायें.

3- पेड़ बढ़ायें.

4- जंगल न काटे जायें.

5- पहाड़ न पाटे जायें.

6- पानी की बूंद भी बर्बाद न करें.

7- नदियां फिर से आबाद करें.

8- नदी में कूड़ा-करकट न बहायें.

9- नदी में औद्योगिक अपशिष्ट न आने पाये.

10- खेत का पानी खेत में.

1- गांव का पानी गांव में.

2- छोटे-छोटे जलाशय बनायें.

3- पारम्परिक जलस्रोत फिर से जिलायें.
4- बावड़ियों की गाद निकालें.
5- खेत में जैविक खाद ही डालें.
6- समुदाय मिलकर चलें.
7- श्रमदान से काम आगे बढ़े.
8- हम शपथ लेते हैं-
(समूह शपथ लेने की मुद्रा में खड़ा होगा.)
समवेत-
- पौधे लगायेंगे.
- पेड़ बढ़ायेंगे.
- जंगल न कटने देंगे.
- पहाड़ न मिटने देंगे.
- जैविक खेती करेंगे.
- नदी स्वच्छ रखेंगे.
- जल संरक्षण करेंगे.
- जल संचयन करेंगे.
- भूजल का स्तर बढ़ायेंगे.
- पानी की हर बूंद बचायेंगे.

(पहले जिसने चक्र घुमाया था, वही पात्र अब उलटी दिशा में चक्र को घुमाता है.)

9- हम अपनी शपथ को पूरा कर सके तो लौट आयेगा वह समय...

1- समय जब हर तरफ हरियाली थी. पृथ्वी बादलों से ढकी थी. पहाड़ों पर बादलों से धाराएं उतरती थीं. झरने धाराप्रवाह बहते थे. नदियां उफान मारती थीं. छोटे-बड़े प्राकृतिक जलाशय पानी भरकर रखने के लिए धरती के बारहमासी बर्तन थे.

2- ऐसे समय में हम गायेंगे, बजायेंगे, नाचेंगे- घनन-घनन घिर-घिर आये बदरा.
(समूह बारिश में भीगने का अभिनय करता है. ❑

किसका काम?

'गुएर्निका' स्पेन के महान चित्रकार पाब्लो पिकासो की वह कृति है जिसने एक बनते इतिहास के लहूलुहान अर्थ को साकार कर दिया था. वस्तुतः यह गुएर्निका शहर पर हुई बमबारी के विनाश का चित्रण है जिसमें युद्ध का आतंक, विभीषिका, बर्बादी, हिंसा के अलग-अलग रूप हैं. कला-मर्मज्ञों का यह भी कहना है कि यह अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत विश्व-मानव का आर्तनाद है.

यह चित्र पेरिस में बनाया गया था और चर्चित भी तत्काल हो गया था. एक दिन पिकासो के निवास पर खुफिया पुलिस आ धमकी. घर का चप्पा चप्पा तलाशा गया. कुछ आपत्तिजनक नहीं था. तभी उनमें से किसी ने वह पेंटिंग देखी. एक पुलिस अधिकारी ने पिकासो से पूछा, 'यह तुम्हारा काम है?' पिकासो ने शांति और दृढ़ता से उत्तर दिया, 'मेरा नहीं, यह तुम्हारा काम है'.

व्यंग्य

कोरोनाकाले जम्बूद्वीपे

● शशिकांत सिंह 'शशि'

लल्लन पहलवान ने अपने चेले बंठा को ठेला और ठेले पर बैठकर ही नगरदर्शन को चल पड़े. पुलिस को सचमुच काम करते देखने की इच्छा उनकी आत्मा में कुलबुलाहट भर रही थी. टी.वी. वाले बता रहे थे कि पुलिस खाना-वाना भी दे रही है तो उन्होंने चार चुनी हुई गालियां कोरोना को दीं जिसने जमाने की चलन ही बदल दी. शेर और बकरी एक ही घाट पर पानी पीने को विवश हैं क्योंकि उस घाट पर पुलिस नहीं आती और जोन भी ग्रीन है. बकरी को कहीं कोरोना न हो इसलिए शेर उसकी ओर पंजा तक नहीं बढ़ाता. पहलवान की कार गैरेज में दुबकी हुई सरकार को कोस रही है. दो पहिया वाहन पाहन की तरह अपने बीते दिनों को कोसता हुआ-सा सुबक रहा है. प्रात:कालीन दारू सेवन के आदी श्रीमान लल्लन काढा पीकर च्यवनप्राश जबड़े में डालकर कोरोना को कोसकर अपने को आदर्श नागरिक साबित कर रहे हैं. मटन और चिकन के लालच में जमे जमाये बंठा उखड़ने लगे हैं क्योंकि अदरक और हल्दी की डोज दी जा रही है. चेलों को देखने के लिए चक्षु तरस गये हैं, पांव छुआये बिना पांवों पर गंदगी की परत चढ़ गयी है. कोरोनाकाल में समय से पहले ही सत्ययुग ने धावा बोल दिया.

पहलवान का ठेला नगर के मध्य में आकर रुक गया क्योंकि बंठा जी झोपड़ी के अंदर पूर्वसेटिंग के तहत रंगीन पानी की तलाश में कूद चुके हैं. लल्लन पहलवान क्या देखते हैं कि बंदर, कोयल और गायें हैरान हैं कि आदमी कहां गये? कुत्ते घरों मे जाकर सूंघ रहे हैं कि आदमी कहीं इसी में तो नहीं छुपे हैं. प्रदूषण की आदी हवा पहले तो सहमी-सहमी सी शहर में घूमती थी अब सीना ताने दनदनाती हुई चल रही है. धरती ने ज़माने के बाद आकाश को देखा तो उसे तसल्ली हुई कि चमक अभी कायम है. नदियों ने कोरोना जी को अभिनंदन पत्र भेजा है कि उन्होंने आदमी नामक फसादी को कम से कम तीन महीने तक घर में कैद कर दिया ताकि धारा की सफाई की जा सके. सफाई जम के चल रही है जनता के जेबों की सफाई हो चुकी है. कारखानों से

मजदूरों की सफाई कर दी गयी. घरों से राशन साफ हो गये. आखों के सपने सफाई से गायब हैं. पहले जनता बेचारी थी अब सरकार हो गयी है. भिक्षाम देहि की सनातन नीति पर बेचारी उतर आयी है कि जनता को खाना खिलाया और आराम से घरों में रखा जा सके. दया के सागर तो सागर नदियों में भी ज्वारभाटा उठ रहे हैं, दयालु और श्रद्धालु दोनों सड़कों पर उतर आये हैं कि जनता की सेवा की जा सके. खास तरह की सेवा के लिए पुलिस लगा दी गयी है. सेना भी संगीन लिये घूम रही है लेकिन आदमी जबतक दस-बीस उठक-बैठक न लगा ले, घरों में रह ही नहीं रहा. पप्पू पानवाला घर में बैठा भजन गा रहा है और पान के खवैये पीकदान लिये पुराने पीपल के नीचे बैठे हैं. पान की दुकान खुली तो जगह पर चार और बेवजह पर चौदह डंडे पड़ने की पूरी उम्मीद रहती है. कोरोना योद्धाओं के वेतन कट जायें तो कट जायें, उन्हें मुअत्तल कर दिया जाये तो कर दिया जाये लेकिन उनको तालियों और फूलों की कमी महसूस नहीं होने दी जा रही. दिन में यदि थाली पीटने का समय न मिले तो रात को ही सही थाली पीटकर डॉक्टरों का हौसला बढ़ाया जा रहा है ताकि अगले दिन जब उन पर पत्थर चलाये जायें तो उन्हें अधिक दुख न हो. ऐसा नहीं कि संसार में सुख ही सुख है, दुखी लोग टीवी पर पाये जाते हैं, टीवी के एंकर जो कि जाहिर तौर पर दुनिया के सबसे अक्लमंद जीव होते हैं और उनको अक्ल देने के बाद अल्ला मियां का खजाना भी खाली हो गया था. बेचारे, कोरोना का मजहब खोज-खोजकर परेशान हैं कि यह देवी हिंदू है या मुसलमान. बिना हिंदू-मुसलमान किये समाचार वाचन का मज़ा ही जाता रहा. कोशिश भर कर तो रहे हैं लेकिन जम्बूदीप की जनता पर मारक असर नहीं हो रहा. सत्ता और विपक्ष के स्वर भी एक से हो गये हैं तो सत्ता की डफली बजाने में उतना मज़ा नहीं आ रहा. विपक्ष को देशद्रोही जबतक साबित न किया जाये तबतक पत्रकारिता में वह रोचकता पैदा ही नहीं होती. हमेशा की तरह बुद्धिजीवी कमरे में और श्रमजीवी सड़कों पर हैं, पैदल मातृभूमि की ओर पलायन करते लोग हैं और उन्हें समझाने को हलकान अपने कमरे में बंद बुद्धिजीवी. राशन और आश्वासन की वर्षा टीवी पर हो रही है. कभी-कभी उसके छींटे सड़कों पर भी उड़कर आ रहे हैं. काम-धंधे बंद कर दिये गये हैं ताकि आदमी काम करके न मर जाये. आदमी को आदमी से दूर रहने की सलाह दी जा रही है जो साहित्यकारों के अलावा किसी और के लिए सुटेबुल नहीं है क्योंकि वह पहले से ही आम आदमी से दूर हैं.

लल्लन भैया ने ठेले पर बैठे-बैठे ही तम्बाकू रगड़ी और सारे दृश्य को देखकर

कोरोना की सात पुश्तों को कोसा जो बंठा को चैन से रंगीन पानी भी लाने नहीं दे रही. बंठा गमछे में मुंह और बोतल ढंके आते दिखे तो ठेला आगे की ओर प्रस्थान कर गया. आगे एक लम्बी लाइन दिखी जिसमें दो से गुणा करने पर धरती की परिधि बन जाती, खोदने पर पता चला कि ये दारूवैरियर्स हैं जो देश की अर्थव्यवस्था के लिए अपनी जान जोखिम में डालकर ठेके पर जान की बाजी लगा रहे हैं ताकि देश को पैसे की परेशानी न हो. बंठा के मरे हुए पूर्वजों को कोस चुकने के बाद लल्लन पहलवान ने उन वीरों को झुककर प्रणाम किया जो कोरोना की मां-बहन एक करके भी ठेके को आबाद कर रहे हैं. उन्हे अपने नगर के दारूवैरियर्स पर गर्व हो आया, गर्व कर चुकने के बाद उनका ठेला नगर में स्थित अमराई की ओर मुड़ गया. अमराई में एक जीव कू कू बोल रहा था. पहलवान ने पता किया तो पता चला कि यह जीव कोयल है जिसके बारे में उन्होंने कविताएं पांचवीं क्लास में पढ़ी थी. क्या सचमुच की कोयल भी पाई जाती है! तभी एक प्राणी की आवाज़ सुनाई दी जो शायद मोर था. पहलवान को पहली बार मालूम हुआ कि मोर नाचने के साथ-साथ बोलने का काम भी करता है. बंठा डरते-डरते बोला–

-'उस्ताद, चिड़िया तो बचपन से ही बोलती रहती है.'

-'तुम्हारे बचपन से या मेरे?'

-'अपने बचपन से उस्ताद. अपने को कभी पुलिस को और पुलिस को अपने से कभी फुर्सत ही नहीं मिली. स्साला, गाड़ी सायरन और सीटी सुनते-सुनते जीवन बीता जा रहा था. कोयल-कबूतर को देखने की फुर्सत ही कहां मिली थी?'

अमराई में एक ताजा बने संत मिले जो क्वरंटीन होने के डर से मुंह पर गमछा बांधे दो दिनों से पड़े थे. मुम्बई से पैदल गांव तो आ गये थे लेकिन गांव वालों ने गले मिलने की बजाये पुलिस को आहुत कर दिया जिसके परिणामस्वरूप श्रीमान अमराई को प्राप्त हो गये. तीन दिनों से भूखे-प्यासे रहने के कारण उनकी दृष्टि दिव्य हो गयी थी. बंठा ने जब उन्हें रंगीन पानी और चखना का भक्षण कराया तो उन्होंने भविष्य का चित्र कुछ यूं खींचा–

-'वत्स, कोरोनाकाल के आरपार हमारी दृष्टि देख रही है. दुनिया ऑनलाइन हो जायेगी. मुद्रा हथेली पर ठनठनाने को विकल हो जायेगी. दिखेगी नहीं लेकिन रहेगी. भिनभिनाती हुई भीड़ में घुसने को तरस जायेगा आदमी क्योंकि उसे आदमी की तरह हरकतें भी करनी पड़ेगी. थूकने तक की आज़ादी छिन जायेगी. थूकना, खांसना, और छींकना सीखने के लिए कोर्स शुरू किये जायेंगे जिसके कोच शहर कोतवाल होंगे. बैलों के मुंह खुले और आदमियों के बंधे रहेंगे. तोता ही नहीं आदमी

भी बाहर निकलने को केवल फड़फड़ायेगा. पढ़ने-पढ़ाने की दुकानें बंद हो जायेंगी और हरेक माल टके सेर बिकने लगेगा. बच्चे सचमुच की शिक्षा प्राप्त करेंगे क्योंकि मास्टरों को गाली देने, छेड़ने और स्कूल की दीवार पर 'आई लव यू' लिखने का मौका ही नहीं मिलेगा. डिग्री के लिए चोरी का अधिकार छिन जायेगा, डिग्री ही शिक्षा का प्रमाणपत्र नहीं होगी. ऑनलाइन विवाह और निकाह होने से बैंड, बाजा, और बारात बेरोजगार हो जायेंगे. ठूंस-ठूंसकर रसगुल्ला जबड़े में जांतने वाले प्रोफेशनल बाराती मायूसी को प्राप्त होंगे. दहेज सहेजने की परम्परा पर भी कुल्हाड़ी चलेगी क्योंकि ऑनलाइन विकल्पों की कमी नहीं होगी. दुनिया अर्थात मोबाइल जेब में लेकर घूमने वाले लोग ही महर्षि, देवर्षि और राजर्षि माने जायेंगे क्योंकि गुगलावतार की महिमा अपरम्पार मानी जायेगी. हे लल्लन पहलवान, अपराधी रहेंगे और पहले से अधिक मज़बूती से रहेंगे क्योंकि कारखानों, धंधों, दुकानों से निकाले गये लोग, प्राणी अपराधमार्ग की ओर गमन करेंगे. सरकारें प्रवचन देंगी और साधु सरकार चलायेंगे. किसानों और मजदूरों के परिवार मुआवजों पर चलेंगे क्योंकि अरबपतियों की अर्थव्यवस्था को ठीक करना पहली प्राथमिकता होगी. जनता थाली और ताली पीटकर ईश्वर और ईश्वररूपी नेताओं का आभार मानेगी कि वह तो कम से कम कोरोना से बच गये. कोरोना सरकारों के लिए अवसर होगा जिसमें वे चुनाव स्थगित करने से लेकर कर्मचारियों के वेतन काटने तक के जनहितकारी काम करेंगे. कोरोना-काल में ज़िंदा बच निकलने वाले लोग नयी दुनिया और नये जम्बूदीप के दर्शन करेंगे. तब तक घरों के अंदर रहो और सुरक्षित रहो. ❑

बनारसवासी बनाम बनारसी

'विशाल भारत' के सम्पादक रहते हुए पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लेखक के रूप में आगे बढ़ाने और हिंदी जगत में प्रतिष्ठित करने में बड़ी भूमिका निभायी थी. शांतिनिकेतन में हिंदी भवन का निर्माण कराने में भी चतुर्वेदीजी का महत्त्वपूर्ण योगदान था. इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे उम्र में अपने से छोटे हजारीप्रसाद जी को अपना छोटा भाई मानते थे और उनकी खिंचाई भी करते थे. एक बार वे हजारीप्रसाद जी की उपस्थिति में बनारसवासियों की खिल्ली उड़ाने लगे. उनकी बातें काफी देर तक सुनने के बाद हजारीप्रसाद जी बोले, ''यह सब तो ठीक है चतुर्वेदी जी, मगर एक जमाना था जब लोग अपने बेटों का नाम 'बनारसी' रखने में गौरव अनुभव करते थे''.

सांस्कृतिक प्रभुत्ववाद और हमारा मीडिया

● व्यासमणि त्रिपाठी

उच्च प्रौद्योगिकी एवं सूचना-संचार ने सम्पूर्ण जगत को एक 'विश्वग्राम' यानी 'ग्लोबल विलेज' में बदल दिया है. मार्शल मैक्लुहान ने 'मीडियम इज़ मैसेज' कहकर ग्लोबलाइजेशन की प्रक्रिया में मीडिया की बढ़ती भूमिका की ओर संकेत किया है. निस्संदेह मीडिया भूमंडलीकरण की तीव्रगामिता में एक बड़ा सहायक है. वह वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों को तेज़ी से प्रभावित कर रहा है. प्रेस, टी.वी., रेडियो, सिनेमा, इंटरनेट आदि विभिन्न रूपों में उसकी पहुंच सब जगह है. हमारी कार्यप्रणाली, मानवीय सम्बंध, आचार-विचार तथा मूल्य-बोध आदि को उसने बुरी तरह प्रभावित किया है. जीवन-शैली में नित नवीन परिवर्तन उसके हस्तक्षेप के ही परिणाम हैं. तकनीक एवं सूचना-संचार के रथ पर आरूढ़ भूमंडलीकरण की अवधारणा में विश्व एक 'बाज़ार' है– जहां मनुष्य एक उपभोक्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है. वहां मानवीय सम्बंधों की ऊष्मा के लिए कोई अवकाश नहीं है. आर्थिक शक्तियां भूमंडलीकरण के रास्ते मनुष्य को उसके देश, संस्कृति तथा सभ्यता से अलगाकर अपने व्यापारिक हितों का संरक्षण एवं पोषण कर रही हैं. उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा है, लेकिन आर्थिक उपनिवेशवाद निरंतर अपने पैर पसार रहा है. पूंजी की सभ्यता अपने उपनिवेश वाले देशों की प्राचीन कला, साहित्य, दर्शन एवं संस्कृति को मिटाकर

एक नयी संस्कृति की स्थापना करने में लगी है. उसकी कार्य पद्धति मनुष्य को एक उपभोक्ता बनाकर, उसके जातीय और सांस्कृतिक जीवन तथा अतीत की स्मृतियों को समाप्त कर उसमें निहित विरोध और विद्रोह की भावना को सुलाकर आंदोलनकारी समस्त ऊर्जा को निस्तेज करने में सक्रिय है. भूमंडलीकरण और मीडिया से अन्य देश चाहे जितना लाभान्वित हुए हों, लेकिन सांस्कृतिक धरातल पर उन्हें सांस्कृतिक प्रभुत्व, सांस्कृतिक समरूपता, सांस्कृतिक ध्रुवीकरण और सांस्कृतिक संकरण जैसी विभिन्न समस्याओं का साक्षात्कार करना पड़ रहा है. सांस्कृतिक प्रभुत्ववाद का शिकार भारत भी है. ऐसे में मीडिया को इसके प्रतिरोध-अवरोध के लिए वातावरण बनाने में एक सहायक की भूमिका का निर्वहन करना था, लेकिन वह भी किसी-न-किसी रूप में पाश्चात्य संस्कृति के सुर में सुर मिलाने में अधिक व्यस्त है.

मार्शल मैक्लुहान से हज़ारों वर्ष पूर्व हमारे मनीषियों ने ऋग्वेद में 'विश्व पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्' का उद्घोष कर 'विश्वग्राम' की ही परिकल्पना की थी. वसुधा को एक कुटुम्ब की तरह देखने-मानने की अवधारणा का जन्म हमारे यहां ही हुआ था. तब के चिंतन में आज की भूमंडलीय व्यवस्था का कोई तत्त्व शामिल नहीं था. वह उदारता, त्याग एवं सहिष्णुता का चिंतन था जिसकी पृष्ठभूमि में करुणा और दया थी, लेकिन आज के 'विश्वग्राम' की अवधारणा के मूल में शोषण, अतिक्रमण एवं नृशंसता का भाव अधिक है. उसमें सामाजिकता थी और इसमें व्यक्तिनिष्ठता है. उसमें सत्य, शास्त्र और अध्यात्म को केंद्रीयता प्राप्त थी जबकि इसमें भ्रम, शस्त्र और प्रवंचना को प्रमुखता मिली है. वह 'सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामया' का उद्घोष करने वाला चिंतन था जबकि यह दुख और विलासिता का पोषक है. पूंजीवादी शक्तियों का उद्देश्य तीसरी दुनिया के देशों की संस्कृतियों का उन्मूलन भी है जबकि भारतीय चिंतन में समन्वय और सहभाव मुख्य स्वर रहा है. यही कारण है कि हमारे यहां सांस्कृतिक संघर्ष कभी नहीं रहा. हमने आगत सभी विचारों को स्वीकारा. उन्हें अपने अनुकूल किया, लेकिन अपनी जड़ों को कभी कमज़ोर नहीं होने दिया.

भूमंडलीकरण और सांस्कृतिक वर्चस्ववाद के इस युग में हमारे पांव टिके रहेंगे यह कहना कठिन है, क्योंकि मीडिया आज जो कुछ परोस रहा है उससे सांस्कृतिक संक्रमण का संकट पैदा हो गया है. कहां तो वह सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की चेतना जगाता उल्टे उन्हीं के अनुकूल वातावरण निर्माण में संलग्न है. वह हमारी संस्कृति के मिथकों, प्रतीकों, बिम्बों, रूपकों तथा

आख्यानों को या तो विस्मृत करने पर तुला है अथवा उन्हें विकृत करने पर. वह इतना शक्तिशाली है कि उसके सामने हजारों वर्ष का हमारा चिंतन बेबस और लाचार लग रहा है. उसके प्रतिरोध का या तो हमारे पास साहस अथवा सोच नहीं है या हमें शुतुरमुर्ग बनकर जीने में ही कल्याण नज़र आता है.

भूमंडलीकरण और मीडिया तंत्रवाद को वित्तीय साम्राज्यवादी संस्थानों से संपोषण मिल रहा है. इसमें विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि का वर्चस्व है. इन्होंने विश्व का अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र बदल दिया है. भूमंडलीकरण की वास्तविक शक्ति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पास है. आर्थिक उदारीकरण के चलते जब से इन कम्पनियों का प्रवेश भारत में हुआ है तब से कई तरह के परिवर्तन नज़र आ रहे हैं. इन्होंने बाज़ार पर अपना कब्जा जमाया तथा स्थानीय उद्योगों को मंदी की ओर धकेला. इसी के साथ इन्होंने हमारे घरों में घुसपैठ की. बाज़ार हमारे घर में प्रवेश कर चुका है. इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि हमारी नियति और नीति के केंद्र में 'अर्थ' आ गया है. हमारे सामाजिक सरोकारों की दुनिया तीव्र गति से बदली है. आत्मकेंद्रीयता ने मानवीय सम्बंधों को क्षीण किया है. जीवन में विश्वास और स्नेह की कमी आयी है. सम्पन्न परिवारों की युवा पीढ़ी की भोग-लिप्सा से समाज आक्रांत है. विलासिता में विवेक-वयस्कता खो बैठी. नयी पीढ़ी आत्म-दलन और आत्महंता की मन:स्थिति तक पहुंच चुकी है. धन-लोलुपता अथवा धन की अधिकता ने हमारे समाज का चेहरा और चरित्र बदलकर रख दिया है. आज असंतोष की असीमता में सब कुछ स्वयं हड़प जाने की हड़बड़ी में उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय का विवेक ही नहीं रह गया है. एक ओर भ्रष्टाचार के मार्ग पर चलकर नव धनाढ्यों का अपार आर्थिक साम्राज्य फल-फूल रहा है तो दूसरी ओर रोटी, कपड़ा, मकान की चिंता में मनुष्यता का आर्त क्रंदन ध्वनित हो रहा है. इन दोनों अतिवादियों की जननी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां हैं. इन कम्पनियों ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य को एक उपभोक्ता से अधिक कुछ नहीं समझा. उसे वही खरीदना पड़ रहा है जो कम्पनियां बेच रही हैं. संस्कृति के नाम पर भी उन्हें वही ओढ़ना-बिछाना है जो मीडिया प्रस्तुत कर रहा है.

उत्तर-आधुनिकतावादियों के विमर्श में प्राचीनता और परम्परा की ग्रहणशीलता के आग्रह को भले ही रूढ़िवादिता की दृष्टि से देखा गया हो लेकिन यह भी विस्मृत नहीं किया जा सकता कि आधुनिकता की पीठिका परम्परा ही है. वैसे भी हमारे भारतीय चिंतन में परम्परा और नवीनता को लेकर बहुत द्वंद्व नहीं रहा है. प्राचीनता को सदैव सर्वोत्तम मानने और नवीनता

को उपेक्षित करने की परिपाटी हमारे यहां नहीं रही है. इन दोनों को समन्वय, सामंजस्य और अंतरण की व्यवस्था में साधने की कोशिश की जाती रही है. इसीलिए उसमें एक प्रकार का लचीलापन विद्यमान रहा है. यही कारण है कि हमारी संस्कृति बाह्य आघातों से न कभी टूटी और न कभी हारी, बल्कि अपने अनुकूलन-गुण के कारण विभिन्न परिस्थितियों में अक्षुण्ण बनी रही. लेकिन आज मीडिया की आंधी हमारा सब कुछ उड़ा ले जाना चाहती है. जिन मज़बूत स्तम्भों पर हमारी संस्कृति का अवलम्बन था उनकी चूलें हिलने लगी हैं. उपभोक्तावादी संस्कृति की चुम्बकीय शक्ति इतनी प्रबल है कि हमारा मन मस्तिष्क उसी की गिरफ्त में है. दर्पण में झिलमिलाते बिम्ब को वास्तविक मान उसकी ग्राह्यता के लिए हमें किसी भी हद तक जाना स्वीकार्य है. हम वह सब कुछ प्राप्त करने के लिए आतुर और लालायित हैं जो हमारे अपने जीवन के यथार्थ से कोसों दूर है. ऐसे में अगर मीडिया यथार्थ को फैंटेसी और फैंटेसी को यथार्थ में बदलने की कला में निष्णात हो तब उसकी ओर आकृष्ट होना अत्यंत स्वाभाविक है. फ्रांस के समाजशास्त्री ज्यां बोद्रिया ने जीवन में मीडिया के हस्तक्षेप को इन शब्दों में रूपायित किया है– 'मीडिया शब्द, दृश्य और अर्थ का भग्न करके उन्हें पुनर्निर्मित करता है ताकि इच्छित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके. मीडिया हमारे और यथार्थ के बीच मध्यस्थता करता है और वह मध्यस्थता हमारे लिए यथार्थ को अधिक-से-अधिक अपदस्थ करती है. इस पुनर्रचना की प्रक्रिया में मीडिया अनुमानों, परिकल्पों और संभाव्य दृश्यों के द्वारा दर्शकों को विशेष विचारों के स्वीकार के लिए उत्प्रेरित करता है. इस प्रकार वह समाज और व्यवस्था में हस्तक्षेप करता है तथा उत्प्रेरणा की प्रक्रिया को उत्साहित करता है.'

पूंजी और प्रौद्योगिकी के अंतहीन विस्तार को साहित्यकारों का एक वर्ग मानवीय अस्मिता पर एक बड़ा संकट मानता है. जाहिर है साहित्य 'बेहतर मनुष्य' और 'बेहतर समाज' की संकल्पना को मूर्तित देखने का आकांक्षी है और इसीलिए वह पूंजी के एक ही स्थान पर संचय को कदापि उचित नहीं मानने की अपनी पक्षधरता व्यक्त करता रहता है. मीडिया पूंजीवाद प्रेरित है. वह ज्ञान को सूचनाओं तक समेट देने में ही अपनी अस्मिता की सार्थकता समझता है. विमर्श के नाम पर वह तंत्र-मंत्र खेल और सिनेमा

साहित्य सोच का परिष्कारक है और मीडिया रुचि का, फिर भला दोनों लय-ताल बद्ध कैसे रह सकेंगे? मीडिया पर कारपोरेट संस्कृति का असर भी उनके रास्ते अलग करने का एक कारक है.

जगत की उन घटनाओं को अपनी क्रियाविधि में शामिल करता है जिनसे किसी-न-किसी रूप में पूंजी के अनंत विस्तार की योजना सफल होती है. उसकी कार्य-प्रणाली बाज़ार को विस्तार देने में ही अपनी सिद्धि मानती है. इसमें हिंदी मीडिया भी शामिल है. मीडिया के मालिकों की नजर सदैव मुनाफा कमाने पर टिकी रहती है. अधिकतम मुनाफे के लिए विशालतम बाज़ार ज़रूरी है. बाज़ारवादी नैतिकता के अनुसार हर वह कार्य वरेण्य है जिसमें अधिकाधिक लाभ की सम्भावना है. इसीलिए मीडियाकारों में व्यावसायिक कौशल को एक अनिवार्य योग्यता के रूप में शामिल किया जाना बाज़ारवादी मनोवृत्ति की पूर्णता का एक अभिन्न अंग है. उनके लिए नयी आचार संहिताओं का गढ़ा जाना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन है. मालिकों की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मीडियाकारों का पूंजीवादी व्यवस्था के हाथों का खिलौना बनने से परहेज नहीं करना भी बाज़ारवादी नैतिकता का ही हिस्सा है. इन्हीं परिस्थितियों ने मीडिया और साहित्य की वह जुगलबंदी खत्म कर दी जो पहले एक-दूसरे के साहचर्य के बिना अधूरी थी. साहित्यकार पत्रकार हुआ करते थे और पत्रकार साहित्यकार, लेकिन अब ऐसा संयोग अत्यंत दुर्लभ है. दोनों की दिशाएं अलग हो गयी हैं. साहित्य सोच का परिष्कारक है और मीडिया रुचि का, फिर भला दोनों लय-ताल बद्ध कैसे रह सकेंगे? मीडिया पर कारपोरेट संस्कृति का असर भी उनके रास्ते अलग करने का एक कारक है. आज मीडिया की जो छवि है उसे लेकर कई तरह के प्रश्न उठ रहे हैं. प्राय: यह कहा जा रहा है कि उसने मानव-विवेक का हरण किया है. सामूहिक जीवन को छिन्न-भिन्न किया है. सत्ता प्रतिष्ठानों के अन्याय, अत्याचार को सौम्य बनाकर तथा बोध एवं संवेदना को नष्ट कर बाज़ारवाद और उपभोक्ता संस्कृति को विकसित किया है. वह जिस रास्ते पर गतिमान है उसका गंतव्य मानव-हित कदापि नहीं है. वह मनुष्य को जिज्ञासु तो बनाता है लेकिन ज्ञानी बनाने की दृष्टि उसके पास नहीं है. सूचना से ज्ञान की गहराई का बोध कभी नहीं हो सकता. मानवीय संवेदना का विकास मार्ग भी उससे प्रशस्त नहीं होता जबकि साहित्य-संवेदना के धरातल पर ही अपनी समस्त ऊर्जा का विकास करता है. संवेदना साहित्य की पूंजी है लेकिन मीडिया संवेदनहीन होकर ही बाज़ार की नैतिकता में अपनी सफलता का विधान रचता है. बाज़ार में वही दीर्घ काल तक चल सकता है जिसमें बाज़ारी शक्तियों के साथ अनुकूलन की क्षमता हो. बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में सांस्कृतिक-क्षरण को बढ़ावा देने में भी मीडिया की बड़ी भूमिका है.

वस्तुपरकता और प्रामाणिकता के साथ ही मीडिया से यह अपेक्षा की जाती है कि

उसमें नैतिकता और उत्तरदायित्व वहन करने का बोध भी हो. मीडिया के लिए संकट तब उत्पन्न होता है जब एक ओर सत्यता तथा वस्तुपरकता और दूसरी ओर मूल्य तथा नैतिकता आमने-सामने विपरीत पंक्तियों में खड़े नज़र आते हैं. इसी समय मूल्यों का संघर्ष शुरू होता है. फिर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस मूल्य को प्राथमिकता दी जाए? कौन-सा मूल्य अब खरा है. वह भी तब जब भौतिकवादी दृष्टि में हर पदार्थ/वस्तु अथवा क्रियाविधि के सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष होते हैं. उदाहरणार्थ, कुछ की दृष्टि में आतंकवाद पर अंकुश लगाने के लिए फांसी का दंड उचित है तो कुछ की दृष्टि में मानवाधिकारों के हनन का प्रश्न है. ऐसे में मीडिया के समक्ष सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह किसकी पक्षधरता को औचित्य की कसौटी पर खरा माने? वह याकूब मेनन की फांसी को सही मानकर उस पर अधिक फोकस करे अथवा आधी रात में सर्वोच्च न्यायालय का दरवाज़ा खटखटाने वाले कुछ वकीलों/बुद्धिजीवियों द्वारा मानव-अधिकारों के हनन की दलीलों पर अपना ध्यान केंद्रित करे. निश्चित रूप से ऐसा क्षण अग्नि परीक्षा का है. तटस्थ रहकर वस्तुपरकता के पक्ष में खड़ा होना मीडिया का धर्म है, लेकिन बाज़ार मीडिया को तटस्थ रहने कहां देता है? पक्ष बन जाना उसकी नियति भी है और बाज़ार की आवश्यकता भी. यही विवशता उसे सत्य के मार्ग से विचलित करती है. उसकी सच और यथार्थ की छवि धूमिल हो जाती है. अर्थार्जन ही मुख्य ध्येय बन जाता है. उसे न मानवीय मूल्यों के संरक्षण की चिंता रहती है और न ही विरूपित हो रही संस्कृति के खतरों से लोगों को सावधान करने की सुध रहती है. यहां यह स्मरणीय है कि मीडिया के कर्तव्य-विधान में जागरण भाव अनिवार्य रूप से शामिल है, लेकिन वह युवा पीढ़ी को जगाने की अपेक्षा मदहोश करने की भूमिका में अधिक दिखाई देता है. इससे भी सांस्कृतिक संकट उत्पन्न होता है.

सांस्कृतिक प्रभुत्ववाद के विस्तार में हिंदी मीडिया की भूमिका बहुत हद तक एक सहायक की है. अमेरिका अथवा यूरोप के समृद्ध एवं शक्तिशाली देश भारत की संस्कृति पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए हर तरह से सचेष्ट हैं. उनकी गिद्ध-दृष्टि हमारी संस्कृति को विनष्ट करने के लिए आतुर रही है. किंतु इसमें सफलता प्राप्त न होती देख उन्होंने अपनी प्रभुता के आतंक से हमारी संस्कृति पर धाक जमाने का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं दिया है. उनके इस उद्देश्य की पूर्ति में अर्थतंत्र, मीडिया, ज्ञान-विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की भूमिका रही है. सूचना-संचार के हथियारों से युक्त शक्तिशाली प्रभुत्ववादी संस्कृति अपने सांस्कृतिक आक्रमणों द्वारा भारत जैसे देशों की संस्कृतियों का गला घोंटने

> एक ऐसा मध्य वर्ग पैदा हुआ है जो आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह की व्याधि से पीड़ित है. यह वर्ग एक ओर सुख और विलासिता का संपोषक है तो दूसरी ओर येन केन प्रकारेण धनार्जन के लिए आतुर.

का प्रयास कर रही है और हम मुकाबला करने की अपेक्षा आत्म-रक्षा के छिट-पुट प्रयासों को आत्ममुग्ध भाव से देखने में लीन हैं. कहा जाता है कि अगर किसी समाज और संस्कृति को विनष्ट करना हो तो सर्वप्रथम उसकी भाषा को नष्ट कर दिया जाए. अंग्रेज़ों ने हमारी भाषा को नष्ट करने का एक भी दांव नहीं छोड़ा, लेकिन अनेक अवरोधों, भीतरघातों के बावजूद हमारी भाषाएं जीवित हैं और हमारी संस्कृति भी. वर्तमान परिदृश्य खतरों से खाली नहीं है. अगर हम सिर्फ हिंदी जाति और उस पर मंडरा रहे संकटों की ओर ध्यान केंद्रित करें तो पायेंगे कि हमारे नेताओं ने वोट बैंक के लिए धर्म के आधार पर हिंदी और उर्दू का विभाजन किया. हिंदी से मैथिली को अलगाया और आज भोजपुरी को अलगाने की कोशिश जारी है. हमारी हिंदी संख्याबल के आधार पर ही राजभाषा के आसन पर विराजमान है तथा विश्व-स्तर पर उसे चीनी और अंग्रेज़ी के बाद का स्थान प्राप्त है. संख्या बल घटा तो उसकी प्रतिष्ठा पर भी आंच आयेगी. यह तो एक पहलू हुआ जिसकी ओर मीडिया का ध्यान ही नहीं है. इसके विपरीत वह स्वयं भी हिंदी को विरूपित करने, हिंदी को हिंग्लिश बनाने की साजिश रच रहा है. देशी भाषाओं/बोलियों को नौकरों तथा लुच्चे-लफंगों की बोली सिद्ध करने में हिंदी मीडिया का बड़ा योगदान है. इसके विपरीत अंग्रेज़ी बोलने वालों को आभिजात्य की श्रेणी में बिठाने का काम मीडिया ने ही किया है. इससे हमारी सांस्कृतिक छवि को जो आघात पहुंच रहा है जिसकी ज़िम्मेदारी तय होनी चाहिए. अगर हमारी भाषाएं जीवित रहीं तो हमारी संस्कृति पर किसी भी बाह्य संस्कृति का प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सकेगा.

संस्कृतियों की विविधता को ध्वस्त कर उन्हें समरूप बनाने की साजिशें तेज हुई हैं. इसमें भूमंडलीकरण और मीडिया की भूमिका प्रमुख है. बहुराष्ट्रीय विज्ञापन उद्योग नवता के नाम पर परम्परागत जीवन-शैली को निर्मूल करने के अनेक उपायों पर कार्य कर रहा है. महानगरों का आभिजात्य वर्ग और उपग्रह-प्रसारण सांस्कृतिक समरूपता की प्रक्रिया में निर्णायक की भूमिका निभा रहे हैं. इसका परिणाम यह हुआ है कि दिक्काल की सीमाएं समाप्त हो रही हैं और मनुष्य अपनी सनातन स्मृतियों से वंचित होने की ओर अग्रसर है. जाहिर है सनातन के बोध के बिना हम सांस्कृतिक मरुस्थल में ही प्रवेश

कर सकते हैं. कुछ लोगों को परम्परा का अनुपालन सांस्कृतिक विकास में बाधक लगता है लेकिन वे यहां भूलते हैं कि परम्परा और जड़ता में अंतर है. जो जीवन-मूल्य और भाव-बोध जड़ हो गये हैं वे विकास की प्रक्रिया में गतिशील नहीं होते और उनका स्वयं पतन हो जाता है, लेकिन जो समय के साथ निरंतर गतिमान हैं वे मानव-जीवन की थाती हैं और अगर उन्हें विनष्ट करने की साजिश होती है तब फिर क्या कहना? अस्सी के दशक तक दूरदर्शन से प्रसारित होने वाली सामग्री राष्ट्रीय गरिमा और सांस्कृतिक महिमा की झांकी होती थी, लेकिन विदेशी चैनलों के प्रसारण से उत्पन्न प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप जो सामग्री दर्शकों के सामने परोसी जाने लगी है उसमें अपनी परम्परागत जीवन-शैली से कटने, जीवन-दर्शन से विमुख होने तथा बाह्य जीवन-मूल्यों एवं संस्कारों को धारण करने के प्रेरक तत्त्व अधिक हैं. इससे एक ऐसा मध्य वर्ग पैदा हुआ है जो आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह की व्याधि से पीड़ित है. यह वर्ग एक ओर सुख और विलासिता का संपोषक है तो दूसरी ओर येन केन प्रकारेण धनार्जन के लिए आतुर. हिंदी मीडिया पश्चिमी संस्कृति की धनलोलुपता और कामुकता को अपने कार्यक्रमों में भरपूर स्थान दे रहा है. मीडिया द्वारा गढ़ी गयी छवियों से नयी पीढ़ी को भ्रमित करने की साजिश चल रही है. उसका सौंदर्यबोध तथा मूल्य-बोध बदल रहा है. विज्ञापनी संस्कृति की ओर उसका इतना झुकाव है कि उससे एकाकार होने में उसे गर्व का अनुभव होता है. उसे यह ज्ञात नहीं है कि वह अपनी इस क्रिया-विधि से विज्ञापन उद्योग की जड़ों को मज़बूत कर रहा है जो लगातार उसे अंधेरे की ओर धकेलने में लगा है. विज्ञापनी संस्कृति कितनी खतरनाक है उसे रेमंड विलियम्स के इस कथन में समझा जा सकता है– 'विज्ञापन केवल वस्तुओं को बेचने की ही कला नहीं है. यह एक दिग्भ्रमित समाज की संस्कृति का सच्चा अंग है. बीसवीं शती के आरम्भ में ही अमेरिका के ज़्यादातर भागों में यही हो रहा था. सन् 1920 तक तो अमेरिका की एक विशाल पीढ़ी दिग्भ्रमित हो चुकी थी. उसके भ्रांत सदस्य उपनगरीय शयनकक्षों की तलाश में लिस्टों और अल्टीयर के चक्कर लगाने लगे थे.' इस कथन में दिया गया आंकड़ा एक शताब्दी पहले का है. तब इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और साइबर स्पेस की कोई भूमिका नहीं थी, लेकिन आज इनकी सशक्तता और प्रभाव का अनुमान कर विज्ञापनी संस्कृति से उपजी भयावहता महसूस की जा सकती है. विज्ञापन उद्योग अपने प्रच्छन्न घोषणा-पत्र में सांस्कृतिक वर्चस्व अथवा सांस्कृतिक समरूपीकरण का किया गया वायदा पूरा करता नजर आ रहा है. वह इस बात की वकालत करता है कि

पारम्परिक जीवन-शैली न केवल दोषपूर्ण है बल्कि, अवैज्ञानिक भी है. नवीनतम प्रौद्योगिकी द्वारा निर्मित नये उत्पादों को अपनाने से ज़माने की दौड़ में पीछे नहीं रहा जा सकता. उसकी बातों की सच्चाई की परख किये बिना हम उसके उत्पादनों के पीछे भाग रहे हैं. यह प्रवृत्ति हमारे समाज और संस्कृति के लिए अत्यंत घातक है.

मनोरंजन के नाम पर बाज़ारवाद के सिद्धांतों से अनुप्राणित हिंदी मीडिया तथ्यहीन, हिंसक और सेक्स से भरपूर चीज़ों को परोस रहा है जो हमारे सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल कदापि नहीं है, फिर भी मीडिया द्वारा प्रचारित-प्रसारित चकाचौंध वाली संस्कृति को अपनाने में नयी पीढ़ी गर्व का अनुभव करती है. उसे होली में उड़ते गुलाल और वासंती बयार में उतनी रुचि नहीं रह गयी है जितनी 'वेलेंटाइन डे' की मस्ती में क्लबों और पार्टियों में उत्तेजक संगीत की धुनों पर झूमने में. यह टी.वी. द्वारा दर्शायी गयी विज्ञापनी संस्कृति से एकाकार होने का परिणाम है. भूमंडलीय मीडिया का वर्चस्ववादी स्वरूप अपने माया-जाल में फंसाकर हमारी युवा पीढ़ी को दिग्भ्रमित कर रहा है. वह ऐसा वातावरण निर्मित कर रहा है जिसमें हमारे युवा यथार्थ को फैंटेसी और फैंटेसी को यथार्थ मान अपनी सांस्कृतिक उत्कृष्टता को नजरअंदाज कर पाश्चात्य संस्कृति के पीछे बहुत तेज़ी से भाग रहे हैं. यदि उनके दिशा-भ्रम को तोड़कर अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति सम्मान-भाव नहीं जगाया गया तो भूमंडलीय मीडिया शक्तिशाली देशों के सांस्कृतिक वर्चस्व की स्थापना के अपने उद्देश्य में अवश्य सफल हो जायेगा. अत: इस षड्यंत्र के विरुद्ध सबको जागना और जगाना होगा तथा मीडिया को बाज़ारवाद से मुक्त होकर भारतीय संस्कृति के संरक्षण और विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी. ❑

गरीब की अवहेलना

मीडिया का नैतिक संसार बदल गया है. न उसमें गुस्सा है न करुणा. यूं कई मुद्दों पर बहसें होती हैं मीडिया में, पर ऐसे मुद्दों पर नहीं जो पिछली पीढ़ियों के पत्रकारों को विचलित करते थे. अखबारों में जिस तरह पत्रकारों को काम बांटे जाते हैं उससे ही गरीब की अवहेलना स्पष्ट हो जाती है. आज हमारे अखबारों में फैशन फिल्म, खेल, मनोरंजन, आर्थिक जगत वगैरह के लिए विशेष संवाददाता रखे जाते हैं. क्या यह एक दुखद आश्चर्य नहीं है कि ग्रामीण गरीबों की सबसे ज्यादा संख्या वाले देश में ग्रामीण या नगरी गरीबी से जुड़ी सूचनाएं जुटाने के लिए एक भी पूर्णकालिक संवाददाता नहीं है.

- पी. साईनाथ

कहानी

क्वारंटीन

● राजिंदर सिंह बेदी

हिंदी और उर्दू के मशहूर लेखक कथाकार राजिंदर सिंह बेदी ने 1940 में प्लेग महामारी को लेकर कहानी लिखी थी 'क्वारंटीन', जिसे आज कोरोना के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए. पढ़ते हुए आप ख़ुद कहेंगे कि ये तो आज की ही कहानी है. उर्दू में छपी इस कहानी का हिंदी में अनुवाद संजीव कुमार और डॉ. जिया उल हक़ ने मिलकर किया है.

हिमालय के पांव में लेटे हुए मैदानों पर फैल कर हर एक चीज़ को धुंधला बना देने वाले कोहरे की तरह प्लेग के खौफ़ ने चारों तरफ़ अपना कब्ज़ा जमा लिया था. शहर का बच्चा बच्चा उसका नाम सुनकर कांप जाता था.

प्लेग तो खौफ़नाक था ही, मगर क्वारंटीन उससे भी ज़्यादा खौफ़नाक था. लोग प्लेग से इतने हैरान-परेशान नहीं थे जितने क्वारंटीन से, और यही वजह थी कि स्वास्थ्य विभाग ने शहरियों को चूहों से बचने की सलाह देने के लिए जो आदमी के कद के बराबर इश्तिहार छपवाकर दरवाज़ों, और सड़क-चौराहों पर लगाया था, उसपर 'न चूहा न प्लेग' के नारे को और बढ़ाते हुए 'न चूहा न प्लेग', के साथ 'न क्वारंटीन' भी लिख दिया था.

क्वारंटीन के सम्बंध में लोगों का खौफ़ वाजिब था. एक डॉक्टर होने के नाते इस विषय में मेरी राय पक्की है और मैं दावे से कहता हूं कि जितनी मौतें शहर में क्वारंटीन से हुईं, इतनी प्लेग से न हुईं, हालांकि क्वारंटीन कोई बीमारी नहीं, बल्कि वो उस बड़ी इमारत का नाम है जिसमें महामारी के दिनों में बीमार लोगों को तंदुरुस्त इंसानों से कानूनन अलग करके रखा जाता है ताकि बीमारी बढ़ने न पाये.

हालांकि क्वारंटीन में डॉक्टरों और नर्सों का काफी इंतिज़ाम था, फिर भी मरीज़ों की संख्या बढ़ जाने पर हर मरीज़ का अलग-अलग ध्यान नहीं रखा जा सकता था. अपने रिश्तेदारों को अपने करीब न होने से मैंने बहुत से मरीज़ों को अपना हौसला खोते हुए देखा. कई मरीज़ तो अपने आसपास लोगों को एक के बाद एक मरते देख कर मरने से पहले ही मर गये. कभी कभी तो ऐसा हुआ कि किसी मामूली तौर पर बीमार आदमी ने वहां की

महामारी वाले माहौल के कारण ही दम तोड़ दिया और ज़्यादा मौत होने की वजह से मृत शरीर का आखिरी क्रिया-कर्म भी क्वारंटीन के नियम-कानून के हिसाब से ही होता था, यानी सड़कों पर पड़ी लाशों को मुर्दा कुत्तों की लाशों की तरह घसीट कर एक बड़े ढेर की सूरत में जमा किया जाता और बगैर किसी धार्मिक नियम और रस्म पूरा किये, पेट्रोल डाल कर सबको आग के हवाले कर दिया जाता और शाम के वक्त जब डूबते हुए सूरज की लालिमा के साथ जलती लाशों की लाल-लाल लपटें उठतीं तो दूसरे मरीज़ यही समझते कि तमाम दुनिया को आग लग रही है.

क्वारंटीन के कारण मौतें इसलिए भी ज़्यादा हुईं क्योंकि जब भी किसी के अंदर बीमारी के लक्षण दिखने शुरू होते तो मरीज़ के परिवार वाले मरीज़ को छुपाने लगते, ताकि कहीं मरीज़ को ज़बरदस्ती क्वारंटीन में न लेकर चले जाएं. चूंकि हर एक डॉक्टर को निर्देश दिया गया था कि मरीज़ की खबर मिले तो फ़ौरन खबर करे, इसलिए लोग डॉक्टरों से इलाज भी न कराते और किसी घर में महामारी होने का पता सिर्फ़ उसी वक्त चलता, जब उस घर से रोने की आवाज़ और लाश निकलती थी.

उन दिनों मैं क्वारंटीन में बतौर एक डॉक्टर के काम कर रहा था. प्लेग का खौफ़ मेरे दिल-ओ-दिमाग पर भी हावी था. शाम को घर आने पर मैं एक अरसे तक कार्बोलिक साबुन से हाथ धोता रहता और एक अन्य दवा से गरारे करता, या पेट को जला देने वाली गर्म काफी या ब्रांडी पी लेता. हालांकि उससे मुझे अनिद्रा और आंखों के चौंधेपन की शिकायत पैदा हो गयी. कई दफ़ा बीमारी के ख़ौफ़ से मैंने उल्टी वाली दवाएं खाकर अपनी तबीअत को साफ़ किया. जब बहुत गर्म काफी या ब्रांडी पीने से पेट में जलन होने लगती और बुखार उठ-उठकर दिमाग तक पहुंच जाता, तो मैं अक्सर एक होशमंद इंसान की तरह अलग-अलग कयास लगाने लगता. गले में ज़रा भी खराश महसूस होती तो मैं समझता कि प्लेग के लक्षण दिखने शुरू हो गये हैं... उफ़! मैं भी इस जानलेवा बीमारी का शिकार हो जाऊंगा... प्लेग! और फिर... क्वारंटीन!

उन्हीं दिनों में विलियम भागू जो नया-नया ईसाई बना था और मेरी गली में सफ़ाई का काम किया करता था, मेरे पास आया और बोला, 'बाबूजी... ग़ज़ब हो गया. आज अम्बोलेंस मोहल्ले के क़रीब से बीस और एक बीमार ले गयी है.'

'इक्कीस? एम्बूलेंस में...?' मैंने ताज्जुब करते हुए ये अलफ़ाज़ कहे.

'जी हां... पूरे बीस और एक...उन्हें भी क्विंटन (क्वारंटीन) ले जाएंगे... आह! वो बेचारे कभी वापस न आयेंगे?'

थोड़ी छानबीन करने पर मुझे पता चला

कि भागू रात के तीन बजे उठता है. आधा पव्वा शराब चढ़ा लेता है और फिर निर्देश के अनुसार कमेटी की गलियों में और नालियों में चूना बिखेरना शुरू कर देता है, ताकि महामारी फैलने न पाये. भागू ने मुझे बताया कि उसके तीन बजे उठने का ये भी मतलब है कि बाज़ार में पड़ी हुई लाशों को इकट्ठा करे और उस मोहल्ले में जहां वो काम करता है, उन लोगों के छोटे मोटे कामकाज करे जो बीमारी के खौफ से घर से बाहर नहीं निकलते. भागू तो बीमारी से ज़रा भी नहीं डरता था. उसका खयाल था अगर मौत आयी हो तो चाहे वो कहीं भी चला जाए, बच नहीं सकता.

उन दिनों जब कोई किसी के पास नहीं फटकता था, भागू सिर और मुंह पर कपड़ा बांधे बिना डरे लोगों की सेवा कर रहा था. हालांकि वो पढ़ा लिखा नहीं था, लेकिन अपने तजुर्बों से वो एक जानकार की तरह लोगों को बीमारी से बचने की तरकीबें बताता फिरता था. आम सफ़ाई, चूना बिखेरने और घर से बाहर न निकलने की सलाह देता था. एक दिन मैंने उसे लोगों को ज़्यादा शराब पीने की सलाह देते हुए भी देखा. उस दिन जब वो मेरे पास आया तो मैंने पूछा, 'भागू तुम्हें प्लेग से डर भी नहीं लगता?'

'नहीं बाबूजी... मेरा बाल भी बांका नहीं होगा. आप इत्ते बड़े हकीम ठहरे, हज़ारों मरीज़ आपके हाथ से सही होकर गये. मगर जब मेरी बारी आएगी तो आपका भी दवा-दारू कुछ असर नहीं करेगा... हें बाबूजी... आप बुरा न मानें. मैं ठीक और साफ़-साफ़ कह रहा हूं.' और फिर गुफ़्तगू का रुख बदलते हुए बोला, 'कुछ कोन्टीन की कहिए बाबूजी... कोन्टीन की.'

'वहां क्वारंटीन में हज़ारों मरीज़ आ गये हैं. हम जितना सम्भव हो सके उनका इलाज करते हैं. मगर कहां तक, मेरे साथ काम करने वाले लोग भी ज़्यादा देर मरीज़ों के पास रहने से घबराते हैं. खौफ़ से उनके गले और लब सूखे रहते हैं. फिर तुम्हारी तरह कोई मरीज़ के मुंह के साथ मुंह नहीं जा लगाता. न कोई तुम्हारी तरह इतनी जान मारता है... भागू! ख़ुदा तुम्हारा भला करे. जो तुम इंसानों की इस कदर खिदमत करते हो.'

भागू ने गर्दन झुका दी और गमछे के एक पल्लू को मुंह पर से हटा कर शराब के असर से लाल हो चुके चेहरे को दिखाते हुए बोला, 'बाबूजी, मैं किस लायक हूं. मुझसे किसी का भला हो जाए, मेरा ये निकम्मा तन किसी के काम आ जाए, इससे ज़्यादा ख़ुशक़िस्मती और क्या हो सकती है. बाबूजी बड़े पादरी लाबे (रेवरेंड मोनित लाम, आबे) जो हमारे मुहल्लों में अक्सर परचार के लिए आया करते हैं, कहते हैं, परमेश्वर इशा मसीह यही सिखाता है कि बीमार की मदद में अपनी जान तक लड़ा दो... मैं समझता हूं...'

मैंने भागू की हिम्मत को सराहना चाहा, मगर भावुकता से मैं रुक गया. उसके आत्मविश्वास और अमली ज़िंदगी को देख कर मेरे दिल में एक जज़्बा पैदा हुआ. मैंने दिल में फ़ैसला किया कि आज क्वारंटीन में पूरी लगन से काम कर के बहुत से मरीज़ों को ज़िंदा रखने की कोशिश करूंगा. उनको आराम पहुंचाने में अपनी जान तक लड़ा दूंगा. मगर कहने और करने में बहुत फ़र्क़ होता है. क्वारंटीन में पहुंच कर जब मैंने मरीज़ों की ख़ौफ़नाक हालत देखी और उनके मुंह से निकली छींक मेरे नथुनों तक पहुंची, तो मेरी रूह कांप गयी और भागू की बराबरी करने की हिम्मत न पड़ी.

फिर भी उस दिन भागू को साथ ले कर मैंने क्वारंटीन में बहुत काम किया. जो काम मरीज़ के ज़्यादा क़रीब रह कर हो सकता था, वो मैंने भागू से कराया और उसने बगैर हिचकिचाये किया... ख़ुद मैं मरीज़ों से दूर दूर ही रहता, इसलिए कि मैं मौत से बहुत डरा हुआ था और इससे भी ज़्यादा क्वारंटीन से.

मगर क्या भागू मौत और क्वारंटीन, दोनों से परे था?

उस दिन क्वारंटीन में चार-सौ के करीब मरीज़ दाखिल हुए और अढ़ाई सौ के लगभग मौत के मुंह में चले गये!

एक दिन वह परमेश्वर ईसा मसीह के पास गया, उनके सामने झुककर आग्रह किया कि सभी इंसानों के गुनाह के बदले वो उसे दुनिया से उठा ले पर इंसानों को बख्श दे.

ये भागू की जांबाज़ी का ही नतीजा था कि मैंने बहुत से मरीज़ों को ठीक किया. वो नक्शा जो मरीज़ों के स्वस्थ होने की रफ्तार का औसत दिखाने के लिए चीफ़ मेडिकल ऑफीसर के कमरे में टंगा था, उसमें मेरे अंतर्गत रखे हुए मरीज़ों की औसत सेहत की लकीर सबसे ऊंची चढ़ी हुई दिखाई देती थी. मैं हर-रोज़ किसी न किसी बहाने से उस कमरे में चला जाता और उस लकीर को सौ फ़ीसदी की तरफ़ ऊपर ही ऊपर बढ़ते देखकर दिल में बहुत खुश होता.

एक दिन मैंने ब्रांडी ज़रूरत से ज़्यादा पी ली. मेरा दिल धक-धक करने लगा. नब्ज़ घोड़े की तरह दौड़ने लगी और मैं एक पागल की तरह इधर-उधर भागने लगा. मुझे खुद शक होने लगा कि प्लेग के कीड़े ने मुझ पर आखिरकार अपना असर कर ही दिया है और बहुत जल्द ही गिलटियां मेरे गले या जांघों पर दिखने लगेंगी. मैं बहुत घबरा गया. उस दिन मैंने क्वारंटीन से भाग जाना चाहा. जितना देर भी मैं वहां ठहरा, खौफ़ से कांपता रहा. उस दिन मैं भागू को सिर्फ़ दो मर्तबा ही देख पाया.

दोपहर के करीब मैंने उसे एक मरीज़ से लिपटे हुए देखा. वो बहुत ही

प्यार से उसके हाथों को थपका रहा था. मरीज़ में जितनी भी ताकत थी उससे पकड़ते हुए उसने कहा, 'भई अल्लाह ही मालिक है. इस जगह तो खुदा दुश्मन को भी न लाये. मेरी दो लड़कियां...'

भागू ने उसकी बात काटते हुए कहा, 'परमेश्वर इशा मसीह का शुक्र करो भाई... तुम तो अच्छे दिखाई देते हो.'

'हां भाई शुक्र है ख़ुदा का... पहले से कुछ अच्छा ही हूं. अगर मैं क्वारंटीन...'

अभी ये शब्द उसके मुंह में ही थे कि उसकी नसें खिंच गयीं. उसके मुंह से कफ़ आने लगा. आंखें पथरा गयीं. कई झटके आये और वो मरीज़, जो एक लम्हे पहले सबको अच्छा दिखाई दे रहा था, हमेशा के लिए खामोश हो गया. भागू उसकी मौत पर दिखाई न देने वाले खून के आंसू बहाने लगा और कौन उसकी मौत पर आंसू बहाता. कोई उसका वहां अपना होता तो आंसू बहाता. एक भागू ही था जो सबका रिश्तेदार था. सबके लिए उसके दिल में दर्द था. वो सबकी खातिर रोता और कुढ़ता था... एक दिन वह परमेश्वर ईसा मसीह के पास गया, उनके सामने झुककर आग्रह किया कि सभी इंसानों के गुनाह के बदले वो उसे दुनिया से उठा ले पर इंसानों को बख्श दे.

उसी दिन शाम के करीब भागू मेरे पास दौड़ा दौड़ा आया. सांस फूली हुई थी और वो एक दर्दनाक आवाज़ से कराह रहा था. बोला, 'बाबूजी... ये कोन्टीन तो नरक है. नरक. पादरी लाबे इसी किस्म की नरक का नक्शा खींचा करता था...'

मैंने कहा, 'हां भाई, ये नरक से भी बढ़ कर है... मैं तो यहां से भाग निकलने की तरकीब सोच रहा हूं... मेरी तबीअत आज बहुत खराब है.'

'बाबूजी इससे ज़्यादा और क्या बात हो सकती है... आज एक मरीज़ जो बीमारी के खौफ़ से बेहोश हो गया था, उसे मुर्दा समझ कर किसी ने लाशों के ढेरों में जा डाला. जब पेट्रोल छिड़का गया और आग ने सबको अपनी लपेट में ले लिया, तो मैंने उसे आग शोलों में हाथ पाँव मारते देखा. मैंने कूद कर उसे उठा लिया. बाबूजी! वो बहुत बुरी तरह झुलसा गया था. उसे बचाते हुए मेरा दायां बाजू बिल्कुल जल गया है.'

मैंने भागू का बाज़ू देखा. उस पर पीली पीली चर्बी नज़र आ रही थी. मैं उसे देखते हुए बिफ़र पड़ा. मैंने पूछा, 'क्या वो आदमी बच गया है. फिर...?'

'बाबूजी... वो कोई बहुत शरीफ़ आदमी था. जिसकी नेकी और शरीफ़ी (शराफ़त) से दुनिया कोई फ़ायदा न उठा सकी, इतने दर्द की हालत में उसने अपना झुलसा हुआ चेहरा ऊपर उठाया और अपनी मरियल सी निगाह मेरी निगाह में डालते हुए उसने मेरा शुक्रिया अदा किया.'

'और बाबूजी...' भागू ने अपनी बात

को जारी रखते हुए कहा, 'उसके कुछ अर्से बाद वो इतना तड़पा, इतना तड़पा कि आज तक मैंने किसी मरीज़ को इस तरह जान तोड़ते नहीं देखा होगा... उसके बाद वो मर गया. कितना अच्छा होता जो मैं उसे उसी वक्त जल जाने देता. उसे बचा कर मैंने उसे बहुत दुख सहने के लिए ज़िंदा रखा और फिर वो बचा भी नहीं. अब उन्हीं जले हुए बाजुओं से मैं फिर उसे उसी ढेर में फेंक आया हूं...'

इसके बाद भागू कुछ बोल न सका. दर्द की टीसों के दर्मियान उसने रुकते रुकते कहा, 'आप जानते हैं... वो किस बीमारी... से मरा? प्लेग से नहीं.... कोन्टीन से... कोन्टीन से!'

हालांकि इस नरक जैसे माहौल में भी लोगों को जितना हो सके राहत का सामान पहुंचाया जा रहा था पर आधी रात के समय जब उल्लू भी बोलने से हिचकिचाते थे, मांओं, बीबियों, बहनों और बच्चों की चीखों की आवाज़ शहर में एक अजीब-सा दर्दनाक माहौल पैदा करती थी. जब मेरे जैसे सही-सलामत लोगों के सीनों पर मनों बोझ रहता था, तो उन लोगों की हालत क्या होगी जो घरों में बीमार पड़े थे और जिन्हें हर तरफ से मायूसी ही दिखाई देती थी. और उसके ऊपर वो क्वारंटीन के मरीज़, जिन्हें मायूसी की हद से गुज़र कर यमराज दिखाई दे रहा था, वो ज़िंदगी से यूं लिपटे हुए थे, जैसे किसी तूफ़ान में कोई किसी पेड़ की चोटी से लिपटा हुआ हो, और पानी की तेज़ लहरें बढ़ कर उस चोटी को भी डुबो देने की ख़्वाहिश रख रखी हो.

मैं उस रोज़ वहम की वजह से क्वारंटीन भी न गया. किसी ज़रूरी काम का बहाना कर दिया. हालांकि मेरा मन बहुत परेशान था, क्योंकि ये बहुत मुमकिन था कि मेरी मदद से किसी मरीज़ को फ़ायदा पहुंच जाता. मगर इस ख़ौफ़ ने जो मेरे दिल-ओ-दिमाग़ पर दबदबा बनाया था, उसने मुझे ज़ंजीर में बांध रखा था. शाम को सोते वक्त मुझे सूचना मिली कि आज शाम क्वारंटीन में करीब पांच सौ से ज़्यादा मरीज़ पहुंचे हैं.

मैं अभी अभी पेट को जला देने वाली गर्म काफ़ी पीकर सोने ही वाला था कि दरवाज़े पर भागू की आवाज़ आयी. नौकर ने दरवाज़ा खोला तो भागू हांफता हुआ अंदर आया. बोला, 'बाबू जी... मेरी बीवी बीमार हो गयी... उसके गले में गिलटियां निकल आयी हैं... खुदा के वास्ते उसे बचाओ ...उसकी छाती पर डेढ़ साला बच्चा दूध पीता है, वो भी खत्म हो जाएगा.'

बिना किसी हमदर्दी का इज़हार करते हुए, मैंने उससे पूछा, 'इससे पहले क्यूं न आ सके...क्या बीमारी अभी अभी शुरू हुई है?'

'सुबह मामूली बुख़ार था... जब मैं कोन्टीन गया...'

'अच्छा... वो घर में बीमार थी. और फिर भी तुम क्वारंटीन गये?'

'जी बाबूजी...' भागू ने कांपते हुए कहा. 'वो बिल्कुल मामूली तौर पर बीमार थी. मैंने समझा कि शायद दूध चढ़ गया है... इसके सिवा और कोई तकलीफ़ नहीं... और फिर मेरे दोनों भाई घर पर ही थे... और सैकड़ों मरीज़ कोन्टीन में बेबस...'

'तो तुम मरीज़ों के प्रति अपनी हद से ज़्यादा मेहरबानी और कुर्बानी के कारण उनकी बीमारी को अपने घर ले ही आये न. मैं न तुमसे कहता था कि मरीज़ों के इतना करीब मत रहा करो... देखो मैं आज इसी वजह से वहां नहीं गया. इसमें सब तुम्हारा कुसूर है. अब मैं क्या कर सकता हूं. तुम जैसे जांबाज़ को अपनी जांबाज़ी का मज़ा भुगतना ही चाहिए. जहां शहर में सैकड़ों मरीज़ पड़े हैं...'

भागू ने आग्रहपूर्वक कहा, 'मगर परमेश्वर इसु मसीह...'

'चलो हटो... बड़े आये कहीं के... तुमने जान-बूझ कर आग में हाथ डाला. अब उसकी सज़ा मैं भुगतूं? कुर्बानी ऐसे थोड़े ही होती है. मैं इतनी रात को तुम्हारी कुछ मदद नहीं कर सकता...'

तो तुम मरीज़ों के प्रति अपनी हद से ज़्यादा मेहरबानी और कुर्बानी के कारण उनकी बीमारी को अपने घर ले ही आये न. मैं न तुमसे कहता था कि मरीज़ों के इतना करीब मत रहा करो...

'मगर पादरी लाबे...'

'चलो... जाओ... पादरी लाम, आबे के कुछ होते...'

भागू सर झुकाये वहां से चला गया. उसके आध घंटे बाद जब मेरा गुस्सा कम हुआ तो मैं अपनी हरकत पर शर्मिंदा होने लगा. मैं अकलमंद कहां का था जो बाद में परेशान हो रहा था. मेरे लिए यही यकीनन सबसे बड़ी सज़ा थी कि अपनी तमाम खुद्दारी को ताक पर रखते हुए भागू के सामने अपने पिछले रवैये पर अफ़सोस जताते हुए उसकी पत्नी का इलाज पूरा जी जान से करूं. मैंने जल्दी जल्दी कपड़े पहने और दौड़ा दौड़ा भागू के घर पहुंचा... वहां पहुंचने पर मैंने देखा कि भागू के दोनों छोटे भाई अपनी भाभी को चारपाई पर लिटाये हुए बाहर निकाल रहे थे... मैंने भागू से पूछा, 'इसे कहां ले जा रहे हो?' भागू ने आहिस्ता से जवाब दिया, 'कोन्टीन में...'

'तो क्या अब तुम्हारे हिसाब से क्वारंटीन दोज़ख नहीं... भागू?'

'आपने जो आने से इनकार कर दिया, बाबू जी... और चारा ही क्या था. मेरा खयाल था, वहां हकीम की मदद मिल जाएगी और दूसरे मरीज़ों के साथ उसका भी

ख़याल रखूंगा.'

'यहां रख दो चारपाई... अभी तक तुम्हारे दिमाग से दूसरे मरीज़ों का खयाल नहीं गया...? बेवकूफ़...'

चारपाई अंदर रख दी गयी और मेरे पास जो भी सबसे अच्छी दवा थी, मैंने भागू की बीवी को पिलायी और फिर मैं अपने उस दुश्मन से मुकाबला करने लगा जिसका नाम था प्लेग. भागू की बीवी ने आंखें खोल दीं.

भागू ने एक भावुक अंदाज़ में, 'आपका एहसान सारी उम्र न भूलूंगा, बाबूजी.'

मैंने कहा, 'मुझे अपने पिछले व्यवहार पर बहुत अफ़सोस है भागू... ईश्वर तुम्हें तुम्हारी सेवा का फल तुम्हारी बीवी को ठीक करने की सूरत में दे.'

उसी वक्त मैंने अपनी दुश्मन बीमारी को अपना आखिरी तिकड़म इस्तेमाल करते देखा. भागू की बीवी के लब फड़कने लगे. नब्ज़ जो कि मेरे हाथ में थी, कम होकर कंधे की तरफ़ सरकने लगी. उसकी बीमारी जीत रही थी मैं हार रहा था. मैं चारों खाने चित हो रहा था. मैंने शर्मिंदगी से सर झुकाते हुए कहा, 'भागू! बदनसीब भागू! तुम्हें अपनी कुर्बानी का ये अजीब सिला मिला है... आह!'

भागू फूट फूट कर रोने लगा.

वो नज़ारा कितना दर्दनाक था, जबकि भागू ने अपने बिलबिलाते हुए बच्चे को उसकी मां से हमेशा के लिए अलग कर दिया और मुझे अफ़सोस के साथ लौटा दिया.

मेरा खयाल था कि अब भागू अपनी दुनिया में अंधेरा पाकर किसी का ख़याल न करेगा... मगर उसे अगले रोज़ फिर मैंने बढ़-चढ़ कर मरीज़ों की सेवा करते देखा. उसने सैकड़ों घरों को बेसहारा होने से बचा लिया... और अपनी ज़िंदगी को गैरज़रूरी समझा. मैंने भी भागू से प्रेरणा लेकर मेहनत से काम किया. क्वारंटीन और अस्पतालों से मुक्त होने के बाद अपने बचे हुए समय में मैं शहर के गरीब तबके के लोगों के घर-घर गया, जो कि नाले किनारे गंदगी में होने की वजह से बीमारी के घर में बसे हुए थे.

कुछ ही दिनों में माहौल बीमारी से बिल्कुल मुक्त चुका था. शहर को बिल्कुल धो डाला गया था. चूहों का कहीं नाम-ओ-निशान दिखाई न देता था. सारे शहर में सिर्फ़ एक-आध केस होता जिसकी तरफ़ फ़ौरन ध्यान दिये जाने पर बीमारी के बढ़ने की कोई उम्मीद बाकी न रही.

शहर में कारोबार ने अपनी हालत पहले जैसे सामान्य इख्तियार कर ली, स्कूल, कॉलेज और दफ़्तर खुलने लगे.

एक बात जो मैंने शिद्दत से महसूस की, वो ये थी कि बाज़ार में गुज़रते वक्त चारों तरफ़ से उंगलियां मुझी पर उठतीं. लोग एहसानमंद निगाहों से मेरी तरफ़ देखते. अखबारों में तारीफ़ के साथ मेरी तस्वीर

छपी. उस चारों तरफ़ से हो रही तारीफ़ की बौछार ने मेरे दिल में कुछ गुरूर-सा पैदा कर दिया.

आखिर एक बड़ा शानदार जलसा हुआ जिसमें शहर के बड़े-बड़े रईस और डॉक्टर आमंत्रित किये गये. वज़ीर-ए-बलदियात ने उस जलसे की अध्यक्षता की. मुझे अध्यक्ष के बगल में बिठाया गया, क्योंकि वो दावत मेरे ही सम्मान में दी गयी थी. हारों के बोझ से मेरी गर्दन झुकी जाती थी और हमारा व्यक्तित्व बहुत खास मालूम होता था. पर गुरूर निगाह से मैं कभी उधर देखता कभी इधर... मानवता की सेवा करने के लिए कमेटी, मेरा धन्यवाद करते हुए मुझे एक हज़ार एक रुपये का इनाम दे रही थी.

जितने भी लोग मौजूद थे, सबने मेरे सहकर्मियों और खासकर मेरी तारीफ़ की और कहा कि पिछली महामारी की आफ़त में जितनी जानें मेरी दिन-रात मेहनत और कोशिश से बची हैं, उनका शुमार नहीं. मैंने न दिन को दिन देखा, न रात को रात, अपनी ज़िंदगी को कौम की ज़िंदगी समझा और अपने धन को अपने कौम का धन, महामारी वाले क्षेत्रों में पहुंचकर मरते हुए मरीज़ों इलाज किया, दवा पिलाई!

वज़ीर-ए-बलदियात ने मेज़ के बाएं पहलू में खड़े होकर एक पतली सी छड़ी हाथ में ली और मौजूद लोगों से बात करते हुए उनका ध्यान दिवार पर लटके नक्शे की तरफ़ दिलाया जिसमें रोज़ सेहतमंद होते मरीज़ों का ग्राफ़ ऊपर की ओर बढ़ता जा रहा था. आख़िर में उन्होंने नक़्शे में वो दिन भी दिखाया जिस दिन मेरे निगरानी में 54 मरीज़ रखे गये और वो सारे के सारे सेहतमंद हो गये.. यानी नतीजा सौ फ़ीसदी कामयाबी का रहा और वो मेरी सफलता की लकीर अपनी सर्वोच्च स्थान तक पहुंच गयी.

इसके बाद वज़ीर-ए-बलदियात ने अपने भाषण में मेरी हिम्मत को बहुत कुछ सराहा और कहा कि लोग ये जान कर बहुत खुश होंगे कि बख्शी जी अपनी सेवा के बदले लेफ़्टीनेंट कर्नल बनाये जा रहे हैं.

पूरा हॉल तारीफ़ की आवाज़ों और तालियों से गूंज उठा.

तालियों के शोर के बीच मैंने अपनी गुरूर से भरी गर्दन को उठाया. कमेटी के अध्यक्ष और मौजूद लोगों का शुक्रिया अदा करते हुए मैंने एक लम्बा चौड़ा भाषण दिया, जिसमें तमाम बातों के अलावा मैंने बताया कि डॉक्टरों का ध्यान सिर्फ़ अस्पताल और क्वारंटीन तक ही सीमित नहीं था, बल्कि गरीब तबके के लोगों के घरों की तरफ़ भी उनका ध्यान उतना ही था. वो लोग अपनी मदद करने के काबिल बिल्कुल नहीं थे और वही ज़्यादा-तर इस महामारी का शिकार हुए. मैं और मेरे सहकर्मियों ने बीमारी पनपने वाली

सही जगह को तलाश किया और अपना ध्यान बीमारी को जड़ से उखाड़ फेंकने में लगा दिया. क्वारंटीन और अस्पताल से छूटकर हमने रातें उन्हीं खौफ़नाक जगहों में गुज़ारीं.

उसी दिन जलसे के बाद जब मैं बतौर एक लेफ्टीनेंट कर्नल के अपनी गुरूर से लदी गर्दन को उठाये हुए, हारों से लदा फदा, लोगों का दिया एक हज़ार एक रुपये का वो छोटा सा तोहफ़ा जेब में डाले घर पहुंचा, तो मुझे एक तरफ़ से आहिस्ता सी आवाज़ सुनाई दी, 'बाबू जी... बहुत बहुत मुबारक हो.'

और भागू ने मुबारकबाद देते वक्त वही पुराना झाड़ू करीब ही के गंदे हौज़ के एक ढकने पर रख दिया और दोनों हाथों से गमछा खोल दिया. मैं भौंचक्का-सा खड़ा रह गया.

'तुम हो...? भागू भाई!' मैंने बड़ी मुश्किल से बोला... 'दुनिया तुम्हें नहीं जानती भागू, तो न जाने... मैं तो जानता हूं. तुम्हारा यीशु तो जानता है... पादरी लाम, आबे के बेमिसाल चेले...तुझ पर खुदा की रहमत हो...!'

उस वक़्त मेरा गला सूख गया. भागू की मरती हुई बीवी और बच्चे की तस्वीर मेरी आंखों में खिंच गयी. हारों के बोझ से मुझे मेरी गर्दन टूटती हुई मालूम हुई और पैसों के बोझ से मेरी जेब फटने लगी. और... इतनी इज़्ज़त हासिल करने के बावजूद मैं अपमानित होकर इस इज्ज़तदार दुनिया का मातम करने लगा!

'बॉबी की पॉलिटिक्स'

बात तबकी है जब राजकपूर की फिल्म 'बॉबी' का हल्ला था. एक विदेशी विचारक ने फिल्म देखने के बाद हॉल से निकलते हुए कहा– 'ए फेंटास्टिक पॉलिटिकल फिल्म'. उनके भारतीय मेजबान इस टिप्पणी से चकित थे– बॉबी एक पॉलिटिकल फिल्म! उन्हें लगा विदेशी विद्वान शायद भाषा की दिक्कत के कारण फिल्म की थीम समझ नहीं पाये. उन्होंने समझाया, 'यह फिल्म तो नयी उम्र के लड़के-लड़की की इश्किया दास्तान है, इसमें पॉलिटिंकल या राजनीतिक क्या है?' विदेशी विचारक मुस्करा कर बोली, इससे बढ़कर पॉलिटिकल क्या होगा कि जिस उम्र में दुनिया भर के युवक-युवतियां 'यूथ पॉवर' और 'स्टूडेंट पॉवर' के नाम पर हड़कम्प मचाये हुए है, उस उम्र में फिल्म के हीरो-हीरोइन एक कमरे में बंद होकर चाबी खो देने में लगे हैं. इससे ज़्यादा खतरनाक पॉलिटिक्स और क्या होगी?'

('दिनमान' में छपी एक रिपोर्ट)

संस्मरण

इलाहाबाद का अभिनंदन युग

● कमलेश्वर

सन् 1951 में आयोजित प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का मूल विचार पूरनचंद जोशी का था, परंतु जिन लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान इसमें था, वे थे– अमृतराय, नेमिचंद्र जैन, प्रकाशचंद्र गुप्त, दास बाबू और डॉ. भगवतशरण उपाध्याय.

डॉ. धर्मवीर भारती, जो कि पहले इलाहाबाद प्रगतिशील लेखक संघ के सेक्रेटरी रहे थे, वे छिटक चुके थे. वे तथा अन्य कुछ लेखक 'परिमल' में थे. परिमल को मंच बनाकर वाचस्पति पाठक मनमानी किया करते थे. पाठक जी साहित्य के सवालों में शामिल नहीं होते थे, पर साहित्य की राजनीति में उनकी गहरी रुचि थी. एक तरह से कहें तो 'परिमल' अधिकांशत: नाराज प्रगतिशीलों की संस्था थी, जो धीरे-धीरे अपनी मान्यताओं को रूढ़ियों में बदलती गयी. पाठक जी नाराज व्यक्ति नहीं थे, वे मूलत: विचारधारा विरोधी थे. उन्होंने चाणक्य की तरह प्रगतिवादी वंश के उन्मूलन की शपथ ली हुई थी. इसमें उनका कोई निहित स्वार्थ नहीं था. यह उनकी साहित्यिक समझ और विश्वास का प्रतिफलन था. शायद यह बनारस और इलाहाबाद की साहित्यिक संस्कृति का अंतर भी था. अपवादों को छोड़ दें तो बनारस पुरातन और परम्परा का पोषक था और इलाहाबाद रचना का नगर. बनारस किसी विचार को मुश्किल से मंजूर करता है, कर लेता है तो उतनी ही मुश्किल से छोड़ता है. इलाहाबाद विचारों का उन्मुक्त स्वागत करता है. परखने के बाद उससे भी जल्दी नामंजूर भी कर देता है... बनारस महिमामय है, इलाहाबाद गरिमामय.

शायद यह पाठक जी की बनारसी महिमा थी कि उन्हें प्रगतिशीलों की गरिमा पसंद नहीं थी. उन्होंने इलाहाबाद सम्मेलन का जमकर विरोध किया. आयोजन के पहले से ही इस विरोध के पीछे हिंदी और उर्दू का सवाल भी था. हम नये लेखक उर्दू के समर्थक थे. हमारे लिए वह हमारी ही भाषा थी, भारतीय भाषा थी. पर पाठक जी जैसे कट्टरपंथियों का विरोध उतना तर्कसम्मत नहीं था, जितना कि भावनासम्मत.

फिर आया 1957 का साहित्यकार सम्मेलन. इस सम्मेलन में सभी प्रगतिशील

मौजूद थे. परसाई और मुक्तिबोध भी आये थे. राजेंद्र यादव, राकेश और मन्नू भी. मैं था, दुष्यंत और मार्कंडेय थे ही. पंजाब, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि सभी जगहों-प्रदेशों के प्रखर लेखक आये हुए थे. सम्मेलन के अलग-अलग सत्रों का संचालन प्रमुख रूप से नेमिचंद जैन, भैरवप्रसाद गुप्त और अमृतराय कर रहे थे. यशपाल और अमृतलाल नागर भी सक्रिय रूप से हाथ बंटा रहे थे. शमशेर बहादुर सिंह पहली बार सार्वजनिक रूप से और पूरी तरह किसी सम्मेलन में शामिल होते नज़र आये थे. जितेंद्र और ओमप्रकाश श्रीवास्तव थे. अश्क जी ने अध्यक्षीय भाषण दिया था...उसे लेकर कुछ हंगामा-सा हो गया था. डॉ. रामविलास शर्मा ने सुदर्शन चक्र उठा लिया था.

लेकिन गरमागरमी और तमाम तरह की वैचारिक चिंगारियों के बाद यह भी स्पष्ट था कि पार्टीबद्ध लेखक-आलोचक अपनी गलतियों को समझने के लिए तैयार थे. सांगठनिक सवालों से अलग नयी कविता और प्रयोगवाद पर, प्रयोगवाद और कविता की अंतर्वस्तु पर गम्भीर विचार-विमर्श हुआ. मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन और शमशेर बहादुर सिंह के वक्तव्यों और विवेचनों से यह स्पष्ट हुआ कि नितांत वैयक्तिक और व्यक्तिवादी कविता के अंतर को पहचाना जाए. उसकी सांस्कृतिक और लोकसांस्कृतिक सम्पदा से आते हुए स्वरों और बिम्बों के अंतर्ग्रथित स्वरूप की व्यापकता को, सघनता को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रखकर समझा जाए.

कहानी-गोष्ठियों में भैरवप्रसाद गुप्त और अमृतराय सक्रिय थे और मार्कंडेय चाहते थे कि नामवर सिंह को कम से कम एक कहानी-गोष्ठी का संचालन तो दिया ही जाए. नये लेखकों, कथाकारों की एक बड़ी जमात इस सम्मेलन में मौजूद थी. वैचारिक गहमा-गहमी थी. इसी सम्मेलन में कहानी के नयेपन और बदले हुए सरोकारों की बात बड़ी शिद्दत से उठी थी और कहानी के बदले हुए परिदृश्य का स्पष्ट अक्स दिखाई देने लगा था.

आलोचना के दरवाज़े पर अमृतराय और नेमिचंद्र जैन ने दस्तक दी थी. चिंतन के दरवाज़ों पर डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, श्रीकृष्णदास, डॉ. साहा, यशपाल, डॉ. एजाज हुसैन, प्रकाशचंद्र गुप्त आदि के साथ ही सारे नये लेखक भी दस्तक दे रहे थे.

यह पहला ऐतिहासिक अवसर था जब लेखक उम्र की सीमा और पीढ़ियों के सवाल से अलग व्यापक साहित्यिक परिदृश्य को इतिहास और यथार्थ के पूरे परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए कटिबद्ध हुआ था. कुछ प्रतिबद्ध भी हुए थे और कुछ अधिक उत्साही लोग पार्टीबद्ध भी हो गये थे. यहां पर प्रतिबद्धता और पार्टीबद्धता को समझ लेना और याद रखना

आवश्यक है.

इस सम्मेलन और माहौल का मज़ेदार असर हुआ. यह असर रचनात्मक कम था– स्पर्धात्मक ज़्यादा था. इससे एक नयी साहित्यिक संस्कृति ने जन्म लिया– वह 'अभिनंदन-संस्कृति' थी. परिमल संस्था ने इसे जन्म दिया था. उसकी देखा-देखी तमाम संस्थाएं कुकुरमुत्तों की तरह उग आयी थीं और आये दिन इलाहाबाद में अभिनंदन होने लगे थे. कोई शाम ऐसी नहीं जाती थी, जब कहीं किसी का अभिनंदन न हो.

महान, युग-प्रवर्तक, साहित्य-दधीचि, मनीषी, मर्मज्ञ, शलाका-पुरुष, महामना, साहित्य-वारिधि, प्रकांड, महामान्य, महापंडित, युगपुरुष तरह के लोग एकाएक पैदा हो गये या जीवित हो उठे. और मैं ही नहीं, पूरा इलाहाबाद चकित रह गया कि इतने मसिजीवी दधीचि हिंदी में नहीं, बल्कि सिर्फ इलाहाबाद में ही मौजूद हैं.

महापंडित, युगपुरुष तरह के लोग एकाएक पैदा हो गये या जीवित हो उठे. और मैं ही नहीं, पूरा इलाहाबाद चकित रह गया कि इतने मसिजीवी दधीचि हिंदी में नहीं, बल्कि सिर्फ इलाहाबाद में ही मौजूद हैं.

हर एक दिन नयी संस्था खड़ी हो जाती और किसी 'शलाका-पुरुष' या 'आचार्य' को खोज लाती. घंटाघर बाज़ार की सारी दूकानों में शाल बिक गये, बलुआघाट और दारागंज में नारियल के भाव चढ़ गये. प्रेस के प्रूफरीडरों की महत्ता बढ़ गयी और वे 'प्रशस्तिपत्र विशेषज्ञ' बन गये. सम्मानपूर्वक विशेषणों की कमी पड़ने लगी.

हम तो इतने सकते में आ गये कि इलाहाबाद की सड़कों पर चलते-फिरते हर व्यक्ति को साहित्यकार या प्रकांड विद्वान मानकर नमस्कार करने लगे. पता नहीं कौन अभिनंदित हो चुका हो या शाम तक अभिनंदित हो जाए. बड़ा कठिन समय था... बेहद जटिल समय था.

मेरे तो होश ही उड़ गये जब पता चला कि 'परिमल' पंडित इलाचंद्र जोशी का अभिनंदन करने जा रहा है. प्रगतिशील तब भला कैसे पीछे रहते? उन्होंने फटाफट उपेंद्रनाथ अश्क को उठा लिया.

जोशी जी के लिए मेरे मन में हमेशा आदर रहा था. वे सबके आदरणीय थे. मेरे तो विशेष आदरणीय थे ही. इसका एक कारण और भी था. वह था, महादेवी जी की साहित्यकार-संसद का पत्र– 'साहित्यकार'. इस मासिक पत्र 'साहित्यकार' के सम्पादक थे महादेवी वर्मा और इलाचंद्र जोशी. वैसे सारा काम करते थे गंगाप्रसाद पांडेय और उन्हीं के साथ मैं भी नत्थी हो गया था. ओंकार शरद का सक्रिय सहयोग भी इस पत्र को प्राप्त था. हम तीन– पांडेय जी, शरद

और मैं इस पत्र को निकालते थे.

परिमल ने जोशी जी के अभिनंदन का बीड़ा उठा लिया था और प्रगतिशील लेखक संघ ने उपेंद्रनाथ अश्क का. यह भी यहां कहना ही पड़ेगा कि अश्क जी हर तरह के अनुष्ठान में पूरी तरह रुचि लेते हैं. अपने लिए हो रहे अनुष्ठान में भी वे पूरी तरह शामिल होने से संकोच नहीं करते. उनके उत्साह से हमेशा यही लगता था कि वे किसी और के लिए यह अनुष्ठान आयोजित कर रहे हैं, पर विलक्षण तब लगता था, जब वे अधिष्ठाता से बदलकर स्वयं अधिष्ठित के रूप में दिखाई देते थे. कुछ वैसे ही जैसे कोई पंडित विवाह-मंत्रों का उच्चारण करते-करते स्वयं विवाह-वेदी पर बैठ जाए.

अश्क जी का संघर्ष, स्मृति और स्मृति के स्रोत भी विलक्षण हैं. वे किसी के मुंह से कुछ भी कहला देते हैं. वह चाहे 'कांता प्रकरण' हो, नागार्जुन प्रसंग हो, देशी सेठ प्रसंग या दूधनाथ सिंह प्रकरण...यदि महादेवी जी के शब्दों में कहूं तो यह काली परछाइयां पकड़ने जैसी बात है. रोशनी तो अंध और दुर्गंध की गुहा के पार ही है. बहरहाल...

तो, यह दिन बड़ी मस्ती के दिन भी थे. हम तीनों ही अभिनंदनों से त्रस्त हो गये थे, बहुत-सी बातों में हम तीनों के संस्कार बहुत मिलते थे. मैं ब्रज प्रदेश का था, दुष्यंत खड़ी बोली क्षेत्र का और मार्कंडेय अवधी प्रदेश का. हम तीनों के परिवार लगभग एक-से संस्कारों के वाहक थे, इसीलिए यदि मन्नादादा, मेरे बड़े भाई थे तो वे तीनों के बड़े भाई थे. दादा श्रीकृष्णदास चूंकि उम्र में सबसे बड़े थे, इसलिए वे मेरे बड़े भाई समेत चारों के दादा थे. भाभियों का दर्जा सबसे ऊपर था... चाहे वे सरोज भाभी हों या मेरी भौजी... वे सबके लिए आदरणीय थीं. वह मेरी मां हो, दुष्यंत की या भारती जी की...तीनों मांयें हम सबकी मांयें थीं. कौशल्या अश्क भी उस तरह और उसी प्रतीति में सबकी बहन जी थीं. हमारे वैचारिक या व्यक्तिगत झगड़े चाहे जितने भी चलते हों, चाहे जितने विकराल हो जाते हों, पर ये पारिवारिक रिश्ते कभी नहीं टूटते थे. हम चाहे हफ्तों एक-दूसरे से बात न करें, लेकिन भाभी, मां या दादा से संवाद कभी नहीं टूटता था. यही और ऐसा ही प्रगाढ़ रिश्ता राकेश की अम्मा के साथ भी था. जब वे दिल्ली में पंजाबी मालिक-मकान वाले के यहां बरसों मेरी मां और गायत्री की सास की तरह घर में एक अलौकिक आशीर्वाद की तरह हमारे साथ थीं.

कितने सौभाग्यशाली थे हम सब...साहित्यिक परिवार से बहुत बड़े थे हमारे घर. साहित्यिक सरोकारों से ज़्यादा सघन थे हमारे घरेलू सम्बंध. मेरी मां को मालूम था कि भारतीजी को कौन-सा अचार पसंद है. दुष्यंत की मां को मालूम

था कि कमलेश्वर को घी बहुत पसंद था, इसलिए गांव से दुष्यंत के लिए नहीं कमलेश्वर के लिए घी आता था. मार्कंडेय की मां सबके लिए हाथ से कूट-पीसकर सत्तू भेजती थीं. और सब भाभियों को पता था कि किसे हींग की कचौड़ी पसंद है और किसे आलू की...

साहित्य से भी ऊपर था जीवन... जीवन का सौंदर्य.

मुझे एक बड़ी सुविधा थी— मेरी और बड़े भाई मन्नादादा की कद-काठी लगभग एक-सी थी. ज़रूरत पड़ने पर मैं उनके कपड़े पहन लेता था. सर्दियों में यह सुविधा बहुत काम आती थी. मैं स्वेटर या कोट बदलता रहता था. दुष्यंत को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी. पर वह पीछे कैसे रहता? आखिर सर्दियां आते ही वह गांव जाकर तमाम वह ऊनी कपड़े उठा लाया, जो परिवार में खारिज हो चुके थे. उनमें बाबूजी की ढीली-ढाली काली अचकन भी थी और छोटे भाई मुन्नू जी के बचपन के स्वेटर भी. उसी में गैबर्डीन का वह सूट भी था, जो दुष्यंत ने अपनी शादी पर पहना होगा. वह अब कसने लगा था... उसने सिकुड़े-मुचड़े कपड़ों की बारात लगा दी और शान से अपने ऊनी कपड़ों की गिनती करवा दी. अब उसके पास सबसे अधिक ऊनी कपड़े थे.

साहित्यिक सरोकारों से ज़्यादा सघन थे हमारे घरेलू सम्बंध. मेरी मां को मालूम था कि भारतीजी को कौन-सा अचार पसंद है. दुष्यंत की मां को मालूम था कि कमलेश्वर को घी बहुत पसंद था

मुझे और मार्कंडेय को शैतानी सूझी, और वे सारे बेनाप ऊनी कपड़े वहीं सिविल लाइंस के एक नये ड्राईक्लीनर की दूकान में डलवा दिये गये. वह नया ड्राईक्लीनर बहुत उत्साहित हुआ. सारे कपड़ों में से दुष्यंत का शादी वाला सूट ही कुछ-कुछ काम का था, जिसे धुलने डालने से पहले उसने पेट सिकोड़कर और बांहें खींचकर पहनने के लिए देखा था... अपनी शादी के उस बेढंगे और पुराने सूट में वो कसकर बांधे गये बिस्तरबंद की तरह लग रहा था... पर वो परम प्रसन्न था.

दुष्यंत जी कहीं बातों में उलझ गये... शायद साइकिल पर चिड़िया की तरह बैठे गोपेश जी गुजर रहे थे. दोनों कवि 'बझ' गये. उत्साहित ड्राईक्लीनर इतने कपड़े पाकर कुछ ज़्यादा ही उत्साहित हो गया था, तो उसका लाभ उठाते हुए मैंने उसे एक निर्देश दिया. निर्देश यह था कि गैबर्डीन के शादी वाले सूट को 'नेवी ब्लू कलर में' डाइ करने के साथ ही आस्तीनों और पैंट की लम्बाई पर पीली पट्टियां डाल दी जाएं.

'जी मैं समझा नहीं...डाई तो हम कर दें...पर ये पीली पट्टियां सूट पर...'

ड्राईक्लीनर ने किंचित हैरत से पूछा.

'क्यों? आपको शायद मालूम नहीं... साहब पुलिस लाइंस (जो दुष्यंत के कानपुर रोड वाले घर के पास ही थी) में बैंड मास्टर हैं...इस सूट को बैंड मास्टर सूट बनाना है. अगर आपने उनके माफिक काम कर दिया, तो पुलिस लाइंस के सारे कपड़े आपकी दूकान पर ही आया करेंगे.'

ड्राईक्लीनर ने रसीद पर यह विशेष निर्देश नोट कर लिया.

नियत दिन जब दुष्यंत अपने कपड़े लेने गया तो पूरे गट्ठर के साथ उस ड्राईक्लीनर ने शान से सबसे पहले उसका सूट निकाला.

'जी देखिए, यह डाई हो गया है... डेढ़ इंच की पीली पट्टी भी लगवा दी है.'

'पीली पट्टी,' दुष्यंत ने देखकर कहा– 'यह मेरा नहीं है!'

'सर आपका है.' नम्बर मिलाकर वह बोला.

'मैंने कहा न... यह मेरा नहीं है... यह किसी बैंड मास्टर का है!'

'सर, आपने ही तो बताया था कि आप पुलिस लाइंस में आप बैंड मास्टर हैं...और यह सूट बैंड मास्टर सूट...'

'क्या!' दुष्यंत चीखा.

पीली पट्टियां सूट पर डाई तो नहीं की जा सकती थीं. इसलिए ड्राईक्लीनर ने रेशमी पीली पट्टियां सिलवा दी थीं और वह भूल गया था कि यह विशेष निर्देश खुद बैंड मास्टर ने दिया था या किसी और ने.

अबे-तबे का स्तर तो खैर शालीन होता ही है...आखिर में वह स्थिति सम्पूर्ण शालीनता में बदल गयी थी.

ऐसी ही साहित्यिक शालीनता का अवसर अश्क जी ने अपने अभिनंदन के समय प्रस्तुत कर दिया था. दुष्यंत तो अचूक आदमी था. सिविल लाइंस में अभिनंदन समारोह चल रहा था. भाषण, प्रशस्तियां और मालाएं. मैं और मार्कंडेय एक कोने में खड़े थे. दुष्यंत फूलों की जगह सफेद और बैंगनी शलजमों का भारी हार उठाये आया था और उसने अश्क जी की जय बोलकर वह शलजमों का हार उन्हें पहना दिया था.

यह अद्‌भुत दृश्य था!

इसी के बाद दारागंज के शास्त्री जी– देवदत्त शास्त्री के साथ हम लोगों ने 'अभिनंदन-तोड़क यथार्थवादी अभिनंदन समिति' बनायी थी. जिस महापुरुष का अभिनंदन शाम को होने वाला होता था, हम उसके यहां सबेरे ही एक अत्यंत 'शालीन' प्रशस्ति-पत्र लेकर पहुंच जाते थे. पहले आराम और आदर से बैठकर जलेबियां खाते थे... फिर वह 'शालीन' प्रशस्ति-पत्र सुनाकर हम शालीनतम गालियां खाते हुए लौट आते थे.

पर इससे इलाहाबाद का यही नुकसान हुआ कि अभिनंदन-युग समाप्त हो गया.❑

दृष्टि

तरु की छाया में

● प्रयाग शुक्ल
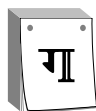
गर्मियां आते ही, तपती दोपहरियों में सभी किसी न किसी छाया की तलाश करते हैं– राही-बटोही, पशु-पक्षी, किसान-मजूर रेहड़ी वाले. वे भी जो किसी मोटर बाइक या साइकिल पर सवार हों, और थोड़ी देर का विश्राम चाहते हों. वे भी जो एयर कंडीशन गाड़ी में सवार हों, पर, उसके पंचर हो जाने या खराब हो जाने पर, चाहते हैं कि किसी तरु की छाया मिल जाये. थोड़ी देर के लिए. अक्सर यह छाया-तलाश किसी तरु-छाया की ही होती है– पत्तों से आच्छादित किसी घने, छायादार पेड़ की. वह अक्सर मिल भी जाती है. और जिसे मिलती है वह उसे सराहता है. यह दृश्य भी आम है– किसी हाईवे में दिख जाने वाले गांव-कस्बे-छोटे शहर का, जहां स्वयं उस गांव-शहर-कस्बे के लोग-दुकानदार, हमें चारपाइयां डाले, किसी घने तरु के नीचे दोपहरी बिता रहे दिखते हैं. पास ही पानी का एक घड़ा रखा होता है; अपने लिए भी, और किसी परिचित-अपरिचित की प्यास बुझाने के लिए भी. गर्मी का मौसम ही वह मौसम है, जो देश-भर में, कमोबेश हर जगह अपना रंग दिखाता है. सर्दियों में, अधिक ठंड पड़ने वाली जगहों से, कुछ लोग उत्तर से दक्षिण की ओर चले जाते हैं. पर गर्मियां, वे तो उत्तर से भी अधिक दक्षिण को गरमा देती हैं– आंध्र को, तमिलनाडु को. सभी तो तपते हैं; राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, महाराष्ट्र, गुजरात, छत्तीसगढ़. कुछ पहाड़ी जगहें ज़रूर ताप से बच जाती हैं. पर, वहां का रुख करने वालों को भी रास्ते में तो, किसी पड़ाव में तो तरु-छाया का स्मरण मात्र मन और शरीर को एक ठंडक पहुंचा रहा होता है. अब तो फिर भी यातायात के साधन बड़े हैं, और लोग बसों, टेंपुओं, ऑटो-रिक्शाओं आदि से अपने गंतव्य तक जल्दी पहुंच जाते हैं, पर, एक ज़माना था, जब पैदल या बैलगाड़ियों से दस-बीस मील की यात्रा भी लम्बी यात्रा ही हुआ करती थी. पर, जाना तो कई जगह दस-बीस मील से भी अधिक बैलगाड़ियों से ही होता था. हम गर्मी की छुट्टियों में कलकत्ता (अब कोलकता) से अपने गांव आते, पुरखों के गांव, उत्तर प्रदेश में, और ननिहाल भी जाते जो हमारे गांव से कोई बीस किलोमीटर तो होगा ही– जाना बैलगाड़ी से ही होता. वह रास्ता लम्बा लगता. हम पानी पीने के

लिए किसी कुएं के पास रुकते. किसी पेड़ की छाया में विश्राम करते. घने पेड़ों की छाया मिल जाती, तो बैलगाड़ी वहीं खड़ी कर देते. बैलों को भी विश्राम मिलता.

'तरु छाया' की इस 'माया' और मनोहरता का कितना सुंदर चित्र खींचा है त्रिलोचन जी ने अपनी कविता 'कठफोड़े ने मार मार कर' में– 'आने वाले ग्रीष्म दिवस तरु की छाया में/बीतेंगे, हर खोज, वहां मेला उमड़ेगा,/नर-नारी आबाल वृद्ध चल कर आयेंगे/हरियाली में आप, ठहर कर इस माया में रमे रहेंगे/और सीस पर से उखड़ेगा चिंता का संसार,/विहग दल में गायेंगे.'

यह कविता 1962 में लिखी गयी थी. तब से अब तक विहग-दल कम हुए हैं. पेड़ भी बहुत कटे हैं. हमारे तरु-सम्मान में कुछ कमी आयी है. बहुमंजिला फ्लैटों की कतारें, शहरों से बाहर निकलकर, पेड़ों की छाया को दूर और दूर करती गयी हैं. पर, नहीं, लोग चेते भी हैं. वृक्षारोपण का सिलसिला कई जगहों पर बना है. पद्मश्री से सम्मानित हुई 107 साल की, कन्नड की वृक्ष-माता थिमक्का के बारे में लोगों ने जाना है, जिन्होंने कोई आठ हज़ार पेड़ अकेले दम पर लगाये हैं. कई संस्थाओं ने, समारोहों में भेंट दिये जाने वाले फूलों के गुच्छे की जगह, पौधे उपहार में देने की सुंदर नीति अपनायी है. इस देश के भूगोल, उसकी जलवायु, और उसकी ग्रीष्म-ऋतु की मांग भी यही है कि उसके पौधों और वृक्षों की संख्या में बढ़ोतरी हो. कई तरह का 'ताप' झेल रहे किसानों को आज भी हर हालत में चाहिए तरु-छाया. खेतों के निकट. राह में. पगडंडी में.

त्रिलोचन जी ने ही फिर एक सुंदर चित्र हमारे लिए रचा है, खेतिहर-किसानों, मजूरों का तरु-छाया के प्रसंग से– अपनी चर्चित कविता 'मिल कर वे दोनों प्रानी दे रहे खेत में पानी' में. यह बहुतों को बहुत प्रिय है. इसका अंतिम पद है– 'विश्राम ज़रा करने को/आराम ज़रा करने को/नव कर्म-शक्ति भरने को/आये हैं तरु-छाया में/अपनी थकान हरने को/मिल कर वे दोनों प्रानी/दे रहे खेत में पानी'

कल्पना की गयी है, रचा भी गया है राहों को इस तरह कि उनके किनारे पेड़ हों, और ज़रूरत पड़ने पर लोग उनकी छाया का लाभ उठा सकें. भला कौन नहीं चाहता, अपनी किसी बस या ट्रेन यात्रा में, या अपनी कार-बाइक-साइकिल यात्रा में, कि यात्रा समाप्त होने तक दिखते रहें पेड़, खासकर ग्रीष्म ऋतु में. वे दूर से भी आंखों को ठंडक पहुंचाने वाले जो हैं. और न भूलें कि पशु तो ग्रीष्म में, तरु-छाया को एक बड़ा आश्रय-स्थल मानते हैं. उसके नीचे बैठे-खड़े वे भी मानो असीस रहे होते हों तरु-छाया को.

तो बनी रहे तरु छाया. मिले उन सबको, कहीं न कहीं, जब वे तलाशें उसे. ❑

कहानी

जाने देंगे तुम्हें

● कुंदनिका कापड़िया

गुजराती की वरिष्ठ रचनाकार कुंदनिका कापड़िया का गत 30 अप्रैल को 93 वर्ष की आयु में निधन हो गया था. केंद्रीय साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित कुंदनिका बेन का उपन्यास 'सात पगला आकाशमां' उनकी एक पहचान बन गया था. गुजराती के महत्वपूर्ण कवि मकरंद दवे से विवाह के बाद उन्होंने वलसाड के निकट नंदीग्राम आश्रम की स्थापना की थी. 'परम समीपे' नामक लोकप्रिय पुस्तक की लेखिका कुंदनिका कापड़िया लम्बे अर्से तक गुजराती 'नवनीत' की सम्पादिका रहीं. उन्हें श्रद्धांजलि के रूप में प्रस्तुत है उनकी एक महत्वपूर्ण कहानी.

खिड़की से उन्होंने आकाश की तरफ नज़र फेरी. पलंग उन्होंने इस तरह रखवाया था कि जिससे आंगन में लगे नीम के पेड़ को अच्छी तरह से देखा जा सके. कई बार नीम की डालियां हवा में खूब ज़ोर से हिल उठतीं, तो ऐसा लगता जैसे खिड़की पर दस्तक दे रही हों. डालियों के बीच की फांकों से भूरा, सफ़ेद आकाश और उसमें सरकते दूधिया बादलों के टुकड़े दिखते. डालियों पर कभी-कभी एक सफ़ेद पक्षी आ बैठता. लम्बी पूंछ वाला, शायद दूधराज होगा. आमतौर पर वह घनी झाड़ियों में रहता है. सामान्यत: दिखता नहीं. पर, यहां तो वह ऐसे आ बैठता, जैसे खुद को दिखाने आया हो.

घर में खूब चहल पहल है. आज दोपहर की फ्लाइट से दीपांकर और मारिया आने वाले हैं. दीपांकर उनका सबसे छोटा बेटा. सात वर्ष पहले अमेरिका गया था. वहीं अमेरिकी लड़की से विवाह कर लिया. बार-बार आने का लिखता था, पर आया नहीं. अब मां बीमार है, मरणोन्मुख है तो पत्नी को लेकर आ रहा है. अमेरिकी लड़की, क्या पता कैसी हो!

वे मन ही मन थोड़ा हंसीं. टैगोर का गीत, मेघानी ने अनुवाद किया था– 'वह कैसी है कैसी नहीं, मां मुझे ज़रा भी याद नहीं'. अपने समय में उन्होंने टैगोर को

खूब पढ़ा था. अपने हमउम्र मित्रों के साथ रविवार को दूर नहीं, पास ही किसी जंगल में जाते, खाते-पीते, वृक्षों के नीचे आड़े पड़ते, गीत गाते और ऊंची आवाज़ में काव्य वाचन करते– 'जेते आमी दियो न तोमाय', विलियम ब्लैक का– 'टु सी द वर्ल्ड इन अ ग्रेन ऑफ सैंड'. यीट्स का पहले का काव्य तो उन्हें कंठस्थ ही था– 'आई विल अराईज़ अंड गो नाऊ– जहां दिन रात सरोवर का जल थपकी देता है, वहां जाऊंगा'. जॉन मेंसफील्ड की कविता– 'मुझे एक राह दो, सिर पर हो आकाश, ठंड हो तो राह में अलाव तापूं, फिर प्रभात, फिर-फिर प्रवास'.

उन्होंने सौंदर्यपूर्ण जीवन जिया था. जीवन उन्हें हमेशा जीने योग्य लगा. अब इस पीढ़ी-बड़ा बेटा और उसकी पत्नी माया, मंझला बेटा और उसकी पत्नी छाया ने क्या कभी टैगोर, कालिदास या शेक्सपियर को पढ़ा होगा? नीत्शे और बर्गसन के तो शायद नाम भी न सुने होंगे. अपने कमरे की अल्मारी में उन्होंने अपनी पसंद की किताबें रखी थीं– क्रिएटिव इवोल्यूशन, फ़ोर्थ वे, एकोत्तरशती, रवींद्रनाथ, जॉन डन और ब्लैक के संग्रह जमा किये थे. जाने कितनी किताबें थीं. पर, इन बहुओं ने कभी अलमारी को हाथ भी नहीं लगाया. पूछा भी नहीं कि ये कौन-सी किताबें हैं. वे तो एलिस्टर मैकलीन्स, जेम्स हेडली चेज़, इयान फ्लेमिंग, गुलशन नंदा की पुस्तकें ही पढ़तीं. बार-बार कहतीं, बहुत बोर हो गये. बोर शब्द उनकी बातों से झरता ही रहता. उन्होंने अपने जीवन में बोरियत का कभी एहसास भी नहीं किया. वे और उनके पति पूर्णमासी पर कई बार लोनावला चले जाते. वहां एकांत में सौंदर्यप्रेमी यात्रियों के लिए 'स्वप्न' नाम का एक गेस्ट हाउस था. नीची छत का छोटा-सा मकान. ऊपर एक छोटी-सी कोठरी थी, जिसमें चारों तरफ, ऊपर से नीचे तक कांच की खिड़कियां थीं. पूर्व दिशा में एक लम्बी पर्वतमाला थी. उसके पीछे से चंद्रमा ज़रा देर से ऊपर आता. वे वहां शांत, स्थिर, एकाग्र होकर बैठ जाते. सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पंदन ग्रहण करते और राह तकते चिरपरिचित, चिर-आह्लादकारी प्रकाश दर्शन की. धीरे-धीरे पहाड़ियों के पीछे से एक रतनार आभा दिखाई देती, फिर एक चमकीली सफ़ेद लकीर. उनके और उनके पति के हाथ अचानक मिल जाते. आनंद की अनुभूतियों में साथी होने का विश्वास जाग जाता. फिर चांद झट से ऊपर आ जाता. उस समय जैसे पृथ्वी की गति थम जाती. मुमकिन होता तो दो तीन दिन वहीं रुक जाते. पूनम के चांद के बजाय एकम-दूज के चांद को उगते देखना अधिक रोमांचक होता. इस छोटे से पहाड़ी स्थान में 9 बजे से ही नीरवता छा जाती. सब कुछ शांत हो कोने में दुबक-सा जाता. आकाश सांस रोककर देखता. हवा में

कहीं धुआं, घरों की बत्तियों की तीखी किरणें, चारों तरफ सन्नाटा और कोमल-मुलायम अंधकार भरी नीरवता. फिर ज़रा देर में चांद उगता, विस्मय से पहाड़ियों को देखता, सोई हुई पृथ्वी को निहारता और फिर तो जैसे प्रकाश की झड़ी ही लग जाती. उन्हें इसका सघन स्पर्श महसूस होता और तन-मन भीग जाता.

सौंदर्य की ऐसी सैकड़ों अनुभूतियों से उनका जीवन भरा पड़ा था. किसी सांझ की बेला में नीम के नीचे रिल्के की कविता पढ़तीं– वी द वेस्टेर्स ऑफ सॉरोज़– दुख से छुटकारे की राह देखने में ही हम शोक को व्यर्थ कर देते हैं. उनके पति चुपचाप सुनते. जीवन के इस आवागमन के पीछे छिपे मर्म की अलप-झलप झांकी दिखती. दुख को समझदारी के साथ स्वीकारने व वेदनाओं में छिपे मर्म को समझने की कोशिश करते.

ये लोग जीवन को किस तरह देखते हैं, कई बार उनके मन में यह सवाल भी उठता. परंतु, माया व छाया के पास इत्मीनान से बैठने की, बात करने की कभी फुर्सत ही नहीं रहती थी. वे तो सारा दिन किसी न किसी चीज़ में व्यस्त रहतीं. कभी कुकिंग क्लास में जातीं और फ्रेंच पुडिंग, इटालियन पिज्जा बनाना सीखतीं. इंटीरियर डेकोरेशन की कक्षा में जातीं, ईकेबाना की मीटिंग करतीं, कैंडल लाइट डिनर लेतीं, बालों की नयी-नयी स्टाइल सीखतीं और बनातीं. कपड़ों के नये-नये मैचिंग करतीं और सुंदर भी दिखतीं. पर, बाहर से जब वे घर आतीं तो हमेशा कहतीं– बोर हो गये, थक गये, वो प्रेमनाथ कितना बोर था. बोरियत की क्यारी में ही उनका दिन उगता और सांझ ढलती.

स्थापित व्यवस्था एवं परम्पराओं के विद्रोह की बातें भी करतीं. कई बार कुछ हिप्पी भी उनके मेहमान बनकर घर में आये. इस सबके बावजूद भी उनके जीवन में बड़ा खालीपन था. जीवन का आनंद तत्व उनकी मुट्ठी से फिसल चुका था. वे जी रही थीं, पर उन्हें लगता था– इस सबका अर्थ क्या है?

और अब एक नयी लड़की घर में आ रही है. मात्र 23-24 वर्ष की. दीपांकर ने विवाह के समय के फोटो भेजे थे. पर, फोटो से और वे भी विवाह के फोटो से व्यक्ति का परिचय कहां मिलता है? उन्हें कौतूहल हो रहा था– दीपांकर की पसंद की लड़की जाने कैसी होगी? वह मेरा आदर करेगी या नहीं? मुझे चाहेगी या नहीं? वैसे यह सब इतना महत्वपूर्ण नहीं था. अब उन्हें और कितने दिन जीना था? पर, एक चाव था, अनजान दूर देश की कन्या बहू बनकर आ रही है, उसे जानने की इच्छा थी. यूं तो माया और छाया भी उसके बारे में उत्कंठित थीं– भय और आशंका से भरी. एक दिन दोनों को खुसर-पुसर करते सुना भी था. एडजस्टमेंट करना

पड़ेगा, ऐसा ही कुछ कह रहीं थीं. यह तो अच्छा है कि घर खूब बड़ा है. सभी इसमें समा सकते हैं. बेटियां भी अपने पति और बच्चों के साथ आयी हुई हैं. मां के अंतिम समय में उनसे मिल लें. परंतु, उन्हें फुर्सत ही नहीं मिलती. 'भाभी टीनू के लिए दूध गरम हो गया? महाराज से कहना, याद से बिना मिर्च की सब्जी निकाले. अविनाश के पेट में अल्सर है.' उनके व्यवहार में एक तरह की अधीरता रहती. अब कितनी छुट्टियां बची हैं, इसका हिसाब वे मन ही मन लगातीं. छुट्टियां कहीं बढ़ानी तो नहीं पड़ेंगी? घर तो बस ऐसे ही छोड़कर आना पड़ा. मां के पास घूमती-घामती आ जातीं. 'दवा ली न मां? नींद ठीक से आयी? रात कैसी गुज़री?' मच्छरदानी के कोने ठीक करतीं, सिमटी चादर ठीक से बिछातीं, मां के पलंग के पास टेबल पर ताज़े फूल रखतीं. बच्चे अगर शोर मचाते, तो उन्हें बाहर निकाल देतीं. यानी मां की पूरी फिक्र रखतीं. रोज़ उनके लिए तरह-तरह की हल्की फुल्की खाने की चीज़ें बनातीं. उन्हें लगता जैसे उनकी परिचर्या पूरी हो गयी.

मां को पता था खालीपन कहां है. पर, अब मृत्यु के सामने आकर सारी अपेक्षाएं समेट ली थीं– जीवन भर मैंने सौंदर्य की कामना की है. जीवन को चाहा है. मरते समय इसे खंडित नहीं होने दूंगी. उन्हें याद आये उनके अतिप्रिय लेखक हेनरी डेरिक एमियल सौंदर्यशास्त्र के प्रोफेसर जिन्होंने तीस वर्ष एकांत में रहकर सोलह हज़ार पन्नों का जर्नल लिखा था. एमियल, बर्गसन और टैगोर के बारे में वे और उनके पति ऐसे बातें करते, मानो वे उनके घनिष्ठ मित्र हों. इनके लिखे साहित्य, जीवन दर्शन का उन्होंने आकंठ पान किया था. अब मृत्यु बेला सामने थी, जीवन की सर्वोच्च अनुभूति के परम आस्वाद का पल! इस पल में अंतिम कामना थी कि पूनम और दूज के चांद की आभा उनके अंगों को सिक्त करे, बस.

कुछ आहट हुई. माया थी. उन्होंने उसकी तरफ नज़र घुमायी. माया पास आयी– 'कुछ चाहिए मां?' उन्होंने सिर हिलाया. हल्के से हंसीं. पर, माया ने मां के हास्य को देखा ही नहीं. वह तो किन्हीं और ही विचारों में गुम थी. वह होशियार, कार्यदक्ष और स्वार्थी थी. खुद को जो चाहिए, वह हर कीमत पर ले लेती थी. दूसरों की उसे कभी परवाह नहीं थी. पति और बच्चे उसके जीवन की सीमाएं थीं. मित्र, पार्टी, सिनेमा सब थे, पर उसने कभी किसी के लिए शायद ही कुछ किया हो.

मंझली छाया थोड़ी अलग थी. आनंदी, उदार और ग्राम्य हास्य से भरी. स्थूल, बहिर्मुख व संवेदनाहीन. इस बड़े मकान में दोनों के रसोईघर अलग-अलग थे. धन बहुत था, इसलिए दोनों के बीच संघर्ष का प्रसंग नहीं आया था. उनका खुद का कमरा अलग ऊपर था. दोनों घरों से बारी-बारी

थाली आती थी. कई बार वे स्वयं नीचे आकर सबके साथ टेबल पर खाना खाती थीं. परंतु ऐसा तभी हो पाता था, जब बाहर का कोई मेहमान न हो. कई बार रात को नीचे नृत्य संगीत होता, गिटार-ऑर्गन बजते. माया अच्छा गाती थी. उनकी बेटी उमा भी अच्छा गाती थी. कभी-कभी सुर उन तक पहुंचते, उन्हें अच्छे भी लगते. पर, माया और उमा ने कभी उनसे नहीं पूछा– मां तुम्हें कोई गीत या भजन सुनना है? अच्छे से यदि कविता भी पढ़ी जाए तो अच्छी लगती है.– 'जेते दियो न तोमाय' – तुम्हें जाने नहीं देंगे. चार वर्ष की बालिका की पिता के लिए स्नेह और गर्व भरी वाणी– 'जाने नहीं दूंगी तुम्हें'. परंतु, जाना तो पड़ता है. प्रलय समुद्र के हू-हू करते वेग में सब कुछ बह जाता है.

पर, किसी ने नहीं कहा– जाने नहीं देंगे तुम्हें. शायद उनके जाने की राह ही देख रहे हों. ठीक है, मन में अब कोई तृष्णा, कोई भय नहीं, या शायद कहीं है?

खिड़की के पास झूलती नीम की डालियां इस चैत्र-वैशाख में सफ़ेद मंजरियों से लद जाएंगी. अल्बेयर कामू ने अपनी डायरी में जिस बादाम की श्वेत मंजरी की चर्चा की थी, शायद उससे भी सुंदर. पूरी रात महका करेंगी. मन में सुख की लहर उठी. 'जेनेरेशन गैप' है तो जाने दो. ईश्वर ने उनकी अंतिम रातें तो महका ही दी हैं.

अचानक मारिया याद आ गयी. उसे यहां अच्छा लगेगा? यहां की उमस व गर्मी, यहां की गंदगी, लोगों की आदतें आदि वह कैसे सहन करेगी? उसे इस देश की वास्तविक स्थिति का पता चलेगा? खैर, जो होगा देखा जायेगा. कुछ ही घंटों में इस कौतूहल का अंत हो जायेगा. दिल में एक धीमा-सा सुर उठा. अंतिम पलों की आभा पर इन बेटे-बेटियों, बहुओं के बीच संघर्ष की छाया न पड़े तो ही अच्छा. हाथ-पांव अब चलते नहीं. केवल तरल पदार्थ ही ले सकती हैं. आवाज़ धीमी पड़ गयी है. सुनाई भी कम देता है. केवल दृष्टि सतेज है और सतेज है मन, हृदय और स्मृतियां.

फ्लाइट थोड़ी लेट थी. दोपहर के बदले शाम 6 बजे विमान आया. कस्टम से

निकलते, घर पहुंचते-पहुंचते साढ़े सात बज गये. दीपांकर और मारिया ने जब उनके कमरे में प्रवेश किया तो उस समय प्रकाश व अंधकार की संधि बेला थी. दीपांकर उमगकर दौड़कर लिपट गया.– 'कैसी हो मां?' उसकी आवाज़ से स्नेह झर रहा था. उन्हें गहरा संतोष हुआ. थोड़ी देर तक वह मां से सटकर बैठा रहा. फिर जैसे कुछ याद आया हो– 'मारिया, यह मेरी मां है,' उसने कहा. इसमें कुछ गर्व की छटा थी, या शायद उन्हें भ्रम हुआ. मारिया आगे आयी. उसने हाथ लम्बा कर, उनका हाथ थोड़ा हिलाया. बोली कुछ नहीं, केवल हंसी. दोनों उनके पास आ बैठे. दीपांकर ने जल्दी-जल्दी बहुत-सी बातें कह डालीं. उनके स्वास्थ्य की, पत्र मिलने के बाद हुई चिंता की, 'अब कैसी तबीयत है मां? अब मैं आ गया हूं, तो सब ठीक हो जायेगा.'

स्नेह भरी चिंता की बातें.

'मां, तुम्हें याद है एक बार मैं बहुत भटककर, कपड़े फाड़कर घर आया था, तो बापू ने मुझे गुस्से में बहुत मारा था. तब तुमने कैसे मुझे गरमागरम हलवा खिलाया था?' लेटे-लेटे वे सुनती रहीं. बहुत-बहुत अच्छा लगा. 'मां अब आराम से सो जाओ. कल सुबह मिलेंगे. चाय साथ में पीयेंगे', दीपांकर ने कहा. मारिया ने भी सिर हिलाया. उसकी आंखें सुंदर थीं, पनीली, गहरी संवेदना भरी. मानो कह रही हों– तुम्हारे मन में क्या है, मैं समझती हूं. फिर वे दोनों नीचे चले गये.

दीपांकर ने सुबह मिलने का कहा है– पर, जब वे अकेली हुईं तो उन्हें लगा– क्यों न आज की रात उनकी अंतिम रात हो जाये. अचानक बहुत कमज़ोरी लगने लगी. आज क्या तिथि है, शायद दूज? धीरे-से सहज ही सुंदर लाल चंद्रमा उगेगा. बस अब और कुछ नहीं चाहिए. आज रात ही अंत आ जाए तो उत्तम है.

नीचे से आवाज़ें सुनाई देना बंद हो गयीं. अभी कुछ ज़्यादा समय तो नहीं हुआ था. शायद 9 बजे होंगे. सभी शायद दूसरी तरफ के आंगन में बैठे होंगे. दीपांकर अमेरिका की बातें कर रहा होगा. बेटियों, माया-छाया को यह देखने का इंतज़ार होगा कि वह उनके लिए क्या लाया था. माया मन ही मन तिकड़म लगा रही होगी कि सबसे अच्छी चीज़ खुद के लिए कैसे ले.

हवा की तेज़ लहर आयी. नीम की डालियां झूल पड़ीं. दो सफ़ेद छोटी कलियां उनके पलंग पर आ गिरीं.

अचानक उन्हें लगा, दरवाज़ा खुला और कोई भीतर आया. आखिरी खुराक तो काम वाली बाई दे गयी थी, फिर कौन होगा?

धीमी पदचाप से कोई उनके पास आया. उन्होंने पहचाना, मारिया थी. उन्हें थोड़ा अजीब लगा. मारिया भला क्यों आयी होगी?

मारिया उनके पास आ बैठी. हाथ में

हाथ लिया. थोड़ी देर तक कुछ नहीं बोली. मात्र सामने देखकर हंसती रही. – 'मुझे यहां बैठना अच्छा लगेगा, बैठूं?', उसने पूछा.

उन्होंने सिर हिलाकर हां कहा. फिर भी उत्सुकता कम न हुई. बहुत देर तक मारिया चुप बैठी रही. नीम के पीछे का आकाश देखती रही. फिर धीमे-से बोली– 'आपने पलंग बिलकुल सही कोण पर रखा है. यहां से वृक्ष सुंदर दिखता है. अब इसमें फूल आयेंगे न? थोड़े-थोड़े दिख भी रहे हैं.' वह अंग्रेज़ी में धीरे-धीरे अटक-अटककर बोल रही थी. उच्चारण अमेरिकी था. पर उन्हें सब समझ में आ रहा था.

मारिया ने फिर कहा, 'मेरे विवाह पर आपने मुझे टैगोर की कविताओं की पुस्तक भेजी थी. मुझे बहुत अच्छी लगी . कितनी ही बार मैंने उन्हें पढ़ा है. कुछ तो कंठस्थ भी हो गयी हैं.' उसने मां के हाथ पर अपना हाथ फेरा और पूछा– 'आपको वे कविताएं याद हैं?' उन्होने आनंद से सिर हिलाया. मारिया सहज ही और करीब सरक आयी. 'आप बहुत कमज़ोर लग रही हैं,' वे कुछ नहीं बोलीं. मारिया ने उनकी आंखों में आंखें डालकर बहुत गहरे देखा. माथे के बाल सहेजे. फिर कान के पास मुंह सटाकर बहुत मृदुता से बोली, 'आपको डर तो नहीं लग रहा न?'

'कैसा डर?'

'अज्ञात का', मारिया धीमे स्वर में बोली, 'अपने परिचितों को छोड़कर शून्य में विलीन होने का?'

हृदय में आनंद की एक बड़ी लहर उठी. यह लड़की मुझे समझती है. मेरे भीतर जो घट रहा है, उसे जानने की इच्छा है. मेरे भय की चिंता है. शायद इसी भय को दूर करना चाह रही है. उन्हें जवाब देना था, पर इस उमड़े ज्वार से वे थक गयीं. जीवन के अंतिम क्षणों में एक नया सम्बंध उदित हुआ है. ज़रा देर से ही सही, पर अत्यंत सुंदर. उन्होंने प्यार और संतोष से मारिया की तरफ देखा. अचानक उन्हें लगा, लोग कहते हैं– पति के जीवित रहते पत्नी की मृत्यु हो जाये तो पत्नी को सौभाग्यवान कहते हैं. ओह, लोगों को क्या पता सौभाग्य किसे कहते हैं? सौभाग्य यह है. अंतिम क्षणों के आकाश में एक नया सम्बंध, नया प्रेम उदित हुआ है. यही असली सौभाग्य है. आनंद से मृत्यु वरण करना सबसे बड़ा सौभाग्य है. नीम के पीछे से चंद्रमा की श्वेत किनारी दिखी. मारिया ने कमरे की बत्ती बुझा दी. लगा, जैसे सफ़ेद फूलों से डालियां भर गयीं. उन्होंने मारिया का हाथ पकड़कर चंद्रमा की तरफ इशारा कर कहा– 'देखो वह अलविदा कह रहा है.'

मारिया ने उनके माथे पर हल्के से हाथ फिराया– 'आपकी यात्रा शांतिपूर्ण हो.' उनके मुंह पर रतनारी आभा खिल उठी.

अनुवादक : प्रतिमा दवे

स्मरण

हिंदी आलोचना की भरोसेमंद आवाज़

● राकेश रंजन

डॉ. नंदकिशोर नवल हिंदी की उस प्रगतिशील आलोचना-परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी थे, जो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल से शुरू होकर पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा से होती हुई डॉ. नामवर सिंह तक पहुंची थी. नवलजी के निधन से हिंदी आलोचना के एक अध्याय का अंत हो गया. वैसे तो हिंदी साहित्य की कोई ऐसी विधा नहीं है, जिसकी सुव्यवस्थित और तर्कपूर्ण व्याख्या उन्होंने नहीं की, किंतु काव्यालोचन के क्षेत्र में उनका जो योगदान है, उसे अद्वितीय कहा जाएगा. हिंदी ने शोध और अनुसंधान पर आधारित लेखन करनेवाला अपना विश्वसनीय आलोचक खो दिया है.

नवलजी ने तीन दर्जन से अधिक आलोचना-पुस्तकों की रचना की, जिनमें 'कविता की मुक्ति', 'हिंदी आलोचना का विकास', 'प्रेमचंद का सौंदर्यशास्त्र', 'निराला और मुक्तिबोध : चार लम्बी कविताएं', 'समकालीन काव्य-यात्रा', 'मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना', 'मुक्तिबोध : कवि-छवि', 'निराला : कृति से साक्षात्कार', 'निराला-काव्य की छवियां', 'शताब्दी की कविता', 'कविता के आर-पार', 'कविता : पहचान का संकट', 'पुनर्मूल्यांकन', 'मैथिलीशरण', 'आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास', 'हिंदी कविता : अभी, बिल्कुल अभी', 'दिनकर : अर्धनारीश्वर कवि', 'नागार्जुन का काव्य' और 'कवि अज्ञेय' काफी महत्त्वपूर्ण हैं. इसके अलावा उन्होंने 'निराला रचनावली' तथा 'दिनकर रचनावली' सहित करीब दो दर्जन पुस्तकों का सम्पादन भी किया. 'ध्वजभंग', 'सिर्फ', और 'धरातल' के सम्पादन से शुरू हुई उनकी साहित्यिक पत्रकारिता की यात्रा 'कसौटी' जैसी महत्वपूर्ण पत्रिका तक पहुंची. 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादन से संबद्ध रहे. चार सौ से अधिक कविताएं लिखीं, संस्मरण लिखे, अनुवाद किया. वे सच्चे अर्थों में साहित्य-साधक थे. साहित्य से इतर उनकी कोई इच्छा, कोई अभिलाषा नहीं थी.

आलोचक के रूप में उनकी अपनी विशेषताएं थीं. हिंदी आलोचना में उनका

विकास सैद्धांतिक पूर्वग्रहों से मुक्त होते एक भिन्न मार्ग पर हुआ. उनकी आलोचना अपने आरम्भकाल से ही आत्मसंघर्ष, आत्मालोचन और आत्मसुधार की प्रक्रिया से गुजरती रही. वह सदैव एक 'प्रक्रिया' रही, 'परिणति' नहीं. आत्मसंघर्षहीन आलोचना कभी विश्वसनीय नहीं हो सकती. असल में आलोचक-दृष्टि एक ऐसी दृष्टि होती है, जो दृश्य को तो देखती ही है, अपने देखने को भी देखती है. अपने गिरेबान में झांके बिना सिर्फ दूसरों को देखना, कम देखना और गलत देखना है.

नवलजी ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रभाव में लिखना शुरू किया था, पर धीरे-धीरे वे उसकी सीमाओं से वाकिफ होते गये. उन्होंने हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना को अपने ढंग से विकसित करने और उसे वैचारिक जड़ताओं से मुक्त बनाने की कोशिश की. नामवरजी ने जलेस के एक सम्मेलन में दिये अपने भाषण में कहा था कि 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को यदि परम्परावाद के इस लकीर के फकीर से मुक्त होना है तो फिर उन लेखकों के पास जाना होगा जिन्होंने इस परम्परावाद को चुनौती देने का साहस किया है.' अपनी परम्परा से बंधे प्रगतिशील आलोचकों के बीच यह साहस सिर्फ नवलजी में दिखाई देता है.

उन्होंने अपनी आलोचना को कभी किसी गैर-रचनात्मक उद्देश्य का माध्यम नहीं बनने दिया और हम कीमत पर उसकी गरिमा बनाये रखी. वे हमेशा मानते रहे कि 'आलोचक का काम किसी छोटे लेखक को बड़ा और किसी बड़े लेखक को छोटा बनाना नहीं है. सारी ताकत लगाकर भी वह यह काम नहीं कर सकता. उसके हाथ में सिर्फ इतना है कि वह तथ्य और युक्ति के साथ यह बतलाए कि छोटा लेखक छोटा और बड़ा लेखक बड़ा क्यों है.' आज यह बात छिपी नहीं है कि समकालीन हिंदी आलोचना का अधिकांश कई प्रकार के आग्रहों-दुराग्रहों का शिकार है. यह भी दुखद है कि अधिकतर आलोचकों और सम्पादकों की अनीति या अयोग्यता के चलते सही और गलत रचना की पहचान मिटती जा रही है तथा साहित्य-बोध धुंधलाता जा रहा है. ऐसे माहौल में विवेक के साथ किसी रचना पर बात करना प्राय: अकल्पनीय होता जा रहा है. इसमें रचनाकारों का भी

कम योगदान नहीं. सही आलोचना लिखना उनसे दुश्मनी मोल लेना है. कथालोचक विजयमोहन सिंह ने ठीक लिखा है कि 'अनवरत ऐसे 'नारदीय भ्रम' में रहनेवाले रचनाकार मानकर चलते हैं कि हमेशा वरमाला उनके ही गले में पड़ेगी.' ऐसी स्थिति में आलोचक यदि मनोबल से कमज़ोर हुआ, तो सही मूल्यांकन नहीं कर पायेगा. इसके साथ ही, यदि वह राग-द्वेष और लाभ-हानि के चक्कर में पड़ा, तो किसी का मूल्यांकन या तो बढ़ाकर करेगा या घटाकर. मगर नवलजी कभी ऐसी भावनाओं से पीड़ित नहीं रहे. एक तरफ वे स्वयं को व्यावसायिक दबावों और पूंजीवादी प्रलोभनों से बचाए रहे, तो दूसरी तरफ गहरे नैतिक दायित्व, कठिन श्रम और व्यापक अध्यवसाय के साथ सृजन तथा सृजन के प्रश्नों और संकटों से टकराते रहे. वे सच कहने से कभी नहीं हिचके. अक्सर खुद को गलत समझ लिये जाने का खतरा मोल लेकर भी उन्होंने अपने अनुभव और विचार सामने रखे. उनमें सच्चाई और खरापन था. बावजूद इसके कि उनसे असहमत हुआ जा सकता था और अनेक बातों को लेकर उनसे बहस की जा सकती थी, इस बात में कोई शक नहीं कि वे अपने विचार-कथन में ईमानदार थे. लाग-लपेट नहीं जानते थे. दो जीभ नहीं रखते थे. जीवन और साहित्य में उनके लिए सबसे बड़ी चीज़ थी ईमानदारी. उनकी जानकारी में खोट हो सकती थी, ईमानदारी में नहीं.

वे किसी वैचारिक आग्रह को कृति के वास्तविक मूल्यांकन में बाधक मानते थे. उनके अनुसार, विचारधारा एक पूरी व्यवस्था होती है, जबकि ज़रूरी नहीं कि कोई कृति उस व्यवस्था को मानकर ही चले. विचारधारा कितनी भी वैज्ञानिक और व्यापक क्यों न हो, जीवन उससे बड़ा होता है और बेशक कृति का वास्तविक सम्बंध जीवन से होता है, विचारधारा से नहीं. उनका मानना था कि जीवन और समाज दोनों असीमित हैं, इसलिए साहित्य की घेराबंदी करना उचित नहीं. साहित्य स्वभाव से मानववादी होता है और साहित्य की प्रकृति में जो मानवीयता है, उसका मार्क्सवाद या किसी अन्य विचारधारा से कोई विरोध नहीं.

मार्क्सवादी दर्शन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वे साहित्य के लिए उसे निभ्रांत प्रतिमान नहीं मानते थे. उनका मानना था कि साहित्य में विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों के रचनाकार होते हैं, जिनकी संवेदना और अभिव्यक्ति में बहुत फर्क होता है. यदि किसी खास विचारधारा में बंधकर उन सभी का मूल्यांकन किया गया, तो इसका अर्थ होगा एकांगी दृष्टि लेकर चलना, जिससे साहित्य में हर प्रकार के वैविध्य का सौंदर्य नष्ट हो जायेगा या अनदेखा रह जाएगा. यद्यपि इसका मतलब यह कतई नहीं है कि आलोचक के पास कोई दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए. वह होना चाहिए, लेकिन

'साहित्येतर' न होकर उसे 'साहित्यिक' होना चाहिए. प्राय: देखने में आता है कि आलोचक कुछ कहते हैं और कृति का अपना कथ्य कुछ और होता है. यही वजह रही कि नवलजी 'कृति से साक्षात्कार' पर बल देते रहे.

पाठाधारित आलोचना की विधिवत् प्रस्तावना नवलजी की एक खास उपलब्धि है. आचार्य द्विवेदी ने कभी पाठाधारित आलोचना पर बल देते हुए कहा था कि 'हमारी साहित्यिक आलोचना में हवाई बातों को छोड़कर ठोस रचनाओं को लेकर चर्चा चले तो अच्छा हो, व्यर्थ ही दलबंदियों और आरोप-प्रत्यारोपों के वाग्जाल में कोई सार नहीं है.' आज हिंदी आलोचना की जो दुर्दशा है, उसका बड़ा कारण यह है कि वह कृति का साक्षात्कार न करके इधर-उधर की बातें बहुत करती है. उलझानेवाले पांडित्य ने उसका नुकसान किया है. यह सही है कि रचना एक रहस्यमय वस्तु है, इसलिए विभिन्न कोणों से उसके विभिन्न रूप और आयाम दिखाई पड़ते हैं. फिर भी आलोचना से अपेक्षा की जाती है कि वह उसका अपना रूप और उसमें संबद्ध आयाम ही दिखाये और उस पर कोई निरर्थक या अवांतर व्याख्या आरोपित न करे. यह भी सही है कि रचना सिर्फ अपने शब्दों तक सीमित नहीं रहती और न ही अपने अर्थ तक, लेकिन उसकी अनुगूंज का पीछा इस हद तक नहीं किया जाना चाहिए कि वह खो जाए और केवल आलोचक के स्वर की गूंज सुनाई पड़ती रहे.

नवलजी मेरे गुरु, प्रेरक और अभिभावक थे. आज मैं जो कुछ भी लिखता-पढ़ता हूं, साहित्य की मेरी जो भी समझ है, उसका मुख्य श्रेय उन्हीं को जाता है. पिछले पच्चीस वर्षों में हर कदम पर वे मेरे मार्गदर्शक रहे. उनका घोर अध्यवसाय, अथक लेखन-परिश्रम, शोध-प्रवृत्ति, यश-धन और मान-पुरस्कार के लोभ-लाभ से परे रहकर साहित्य को साधना की वस्तु समझना, ज़िम्मेदारी और ईमानदारी– उनके ये गुण हमेशा मुझे रोशनी दिखाएंगे. आज उनके सशरीर न रहने के बाद, अपनी अलमारी में उनकी लिखित और सम्पादित पचासों किताबों को देख रहा हूं और निराला की पंक्तियां मन में घूम रही हैं : 'मरण को जिसने वरा है./उसी ने जीवन भरा है.' पर सच्चाई यह है कि जिसने आपका जीवन भरा हो, उसके जाने से जो खालीपन आता है, उसकी भरपाई किसी विकल्प से नहीं हो सकती; इस अभाव का जख्म किसी योग से नहीं मिट सकता : 'ए रे जखम जोगे नहि जषे.' नवलजी के निधन से हिंदी ने एक ऐसा आलोचक खो दिया है, जिसकी हर सांस उसमें रची-बसी थी; एक ऐसा आलोचक, जिसकी आवाज़ साफ और निष्कवच थी; एक भरोसेमंद आवाज़, जिसके बिना कोई भी भाषा-समाज दरिद्र होता है! ❑

अप्रैल की एक ख़ुशगवार सुबह सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की देखने पर

● हारूकी मुराकामी

टोक्यो के फ़ैशन-परस्त हराजूकू इलाके की एक तंग गली में मैं सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की की बगल से गुज़रता हूं.

आपको सच बताता हूं, वह दिखने में उतनी सुंदर नहीं है. भीड़ में वह अलग-से दिखे, वह ऐसी नहीं है. उसने जो कपड़े पहने हुए हैं, वे भी विशिष्ट नहीं हैं. वह उतनी युवा भी नहीं है– वह लगभग तीस वर्ष की होगी, और आप उसे उस अर्थ में 'लड़की' भी नहीं कह सकते. किंतु फिर भी मैं पचास गज की दूरी से यह जान गया हूं कि वह मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की है. जैसे ही मेरी निगाह उस पर पड़ती है, मेरे हृदय में एक हलचल होने लगती है, और मेरा मुंह किसी रेगिस्तान की तरह सूख जाता है.

सम्भवत: आपको भी कोई विशेष प्रकार की लड़की पसंद होगी– वह जिस के टखने पतले हों, या आंखें बड़ी हों, या उंगलियां मनोहर हों, या आप बिना किसी विशेष कारण के ऐसी लड़कियों के प्रति आकर्षित हो जाते हों जो अपना भोजन समाप्त करने में समय लेती हैं. ज़ाहिर है, मेरी भी अपनी पसंद है. कभी-कभी किसी रेस्तरां में मैं अपने-आप को अपने बगल की मेज पर मौजूद लड़की को गौर से देखता हुआ पाता हूं क्योंकि मुझे उसकी नाक का आकार पसंद है.

लेकिन कोई भी इस बात को लेकर अड़ नहीं सकता कि उसकी सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की को किसी खास तरह के अनुरूप ही होना चाहिए. हालांकि मुझे नाक पसंद है, किंतु मुझे उसकी नाक का आकार याद नहीं. यहां तक कि मुझे यह भी याद नहीं कि उसकी नाक थी भी या नहीं. मुझे बस एक ही बात याद है– वह बला की खूबसूरत नहीं थी. यह अजीब है.

'कल एक गली में मैं सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की की बगल से गुज़रा– 'मैं किसी से कहता हूं.

'अच्छा?' वह कहता है. 'वह खूबसूरत रही होगी.'

'नहीं, ऐसा तो नहीं था.'

‘तो फिर वह उस तरह की लड़की होगी जिसे तुम चाहते हो.’

‘मुझे पता नहीं. मुझे उसके बारे में कुछ भी याद नहीं आ रहा– यहां तक कि उसकी आंखों या उसके उरोजों का आकार भी याद नहीं आ रहा.’

‘यह तो अजीब बात है.’

‘हां, यह अजीब है.’

‘तो फिर तुमने क्या किया?’ ऊबते हुए वह पूछता है– ‘क्या तुमने उससे बात की? या उसका पीछा किया?’

‘नहीं. केवल सड़क पर उसके बगल से गुज़रा.’

वह चल कर पूरब से पश्चिम की ओर जा रही है, जबकि मैं पश्चिम से पूरब की ओर जा रहा हूं. यह वाकई अप्रैल की एक सुखद सुबह है.

काश, मैं उससे बात कर पाता. आधे घंटे की बातचीत काफ़ी होगी– उससे उसके बारे में पूछूंगा, उसे अपने बारे में बताऊंगा, और यह भी बताऊंगा कि दरअसल मैं क्या करना चाहता हूं. मैं उसे भाग्य की जटिलताओं के बारे में बताऊंगा जिसकी वजह से हम दोनों 1981 की एक सुखद सुबह हराजूकू इलाके की एक गली में एक-दूसरे की बगल से गुज़र रहे हैं. यह तो निश्चित रूप से उत्साहित करने वाले रहस्य से भरी हुई बात होगी. जैसे एक प्राचीन घड़ी तब टिक्-टिक् कर रही हो जब पूरे विश्व में शांति हो.

आपस में बात करने के बाद हम कहीं दोपहर का भोजन ले सकते हैं. शायद हम वूडी ऐलेन की कोई फ़िल्म भी साथ-साथ देखने चले जाएं या किसी होटल में थोड़ी शराब पीने के लिए रुक जाएं. यदि किस्मत ने साथ दिया तो कौन जाने, हम हमबिस्तर भी हो जाएं.

मेरे हृदय के द्वार पर अपार सम्भावनाएं दस्तक दे रही हैं. अब हम दोनों के बीच की दूरी कम हो कर महज़ पंद्रह गज़ रह गयी है.

मैं उससे कैसे बात करूं? मैं उसे क्या कहूं?

‘नमस्ते. क्या आप मुझसे बात करने के लिए आधे घंटे का समय निकाल सकती हैं?’

बकवास. ऐसा कहते हुए मैं किसी बीमा एजेंट की तरह लगूंगा.

‘क्षमा करें. क्या आपको पड़ोस में स्थित रात भर खुली रहने वाली किसी धोबी की दुकान की जानकारी होगी?’

नहीं. यह भी उतना ही हास्यास्पद होगा. एक तो मेरे पास धुलने के लिए दिये जाने वाले गंदे कपड़े नहीं हैं. फिर ऐसी पंक्ति भला किस पर प्रभाव डालेगी.

शायद सीधी-सादी सच्चाई से काम बन जाए. ‘नमस्ते. आप मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की हैं.’

नहीं. वह मेरी बात पर यक़ीन नहीं करेगी. माफ़ कीजिए, वह कह सकती है,
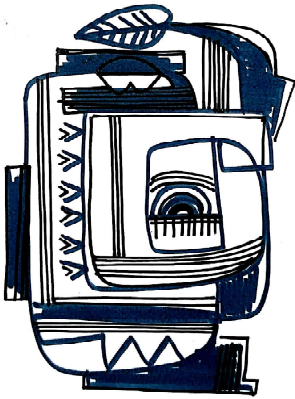
मैं आप के लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की हो सकती हूं, पर आप मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़के नहीं हैं. यह हो सकता है. और यदि मैंने खुद को ऐसी स्थिति में पाया तो मैं टूट कर बिखर जाऊंगा. मैं इस सदमे से कभी नहीं उबर पाऊंगा. मेरी उम्र बत्तीस साल है, और बढ़ती उम्र का सामना करना आसान नहीं होता.

हम फूल बेचने वाली एक दुकान के सामने से गुज़रते हैं. गरम हवा का एक छोटा-सा झोंका मेरी त्वचा को छू जाता है. डामर गीला है और मेरी नासिकाओं में गुलाब की सुगंध प्रवेश करती है. मैं उस लड़की से बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता. उसने एक सफ़ेद स्वेटर पहना हुआ है, और अपने दाएं हाथ में उसने एक कड़क सफ़ेद लिफ़ाफ़ा पकड़ा हुआ है जिसमें डाक-टिकट का नहीं लगा होना ही एकमात्र कमी है. अच्छा, तो उसने किसी को पत्र लिखा है. शायद उसने यह पत्र लिखने में पूरी रात लगा दी हो. उसकी आंखों में भरी नींद को देखने से तो यही लगता है. इस लिफ़ाफ़े में लड़की के सारे गोपनीय रहस्य छिपे हुए हो सकते हैं.

मैं कुछ क़दम और आगे बढ़ाता हूं और फिर मुड़ जाता हूं– वह लड़की भीड़ में खो गयी है.

अब, ज़ाहिर है, मैं बिल्कुल जानता हूं कि मुझे उस लड़की से क्या कहना चाहिए था. हालांकि वह एक लम्बा भाषण हो जाता, इतना लम्बा भाषण कि मैं उसे ठीक से नहीं दे पाता. यूं भी मेरे मन में जो विचार आते हैं, वे कभी भी व्यावहारिक नहीं होते.

खैर! तो वह भाषण ऐसे शुरू होता– 'एक बार की बात है' और उसका अंत इस तरह से होता– 'एक उदास कथा, आपको नहीं लगता?'

एक बार की बात है, एक लड़का और एक लड़की कहीं रहते थे. लड़के की उम्र अठारह बरस की थी जबकि लड़की सोलह बरस की थी. वह लड़का बहुत रूपवान नहीं था, और वह लड़की भी बेहद खूबसूरत नहीं थी. वे दोनों अकेलेपन से ग्रस्त किसी आम लड़के या लड़की की तरह थे. लेकिन वे अपने हृदय की अतल गहराइयों से इस बात पर यकीन करते थे कि इस विश्व में कहीं कोई 'सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़का' व 'सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की' उनके लिए मौजूद थे. हां, चमत्कार में उनका यकीन

था. और वह चमत्कार वास्तव में हुआ.

एक दिन किसी गली के मोड़ पर वे दोनों आपस में मिल गये.

'यह तो आश्चर्यजनक है.' लड़के ने कहा. 'मैं जीवन भर तुम्हें ढूंढ़ता रहा हूं. शायद तुम्हें इस बात पर यकीन न हो, लेकिन तुम मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की हो.'

'और तुम,' लड़की बोली, 'मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़के हो. बिल्कुल वैसे जैसी मैंने कल्पना की थी. यह तो किसी सपने जैसा है.'

वे दोनों पार्क की एक बेंच पर साथ-साथ बैठ गये. उन्होंने एक-दूसरे के हाथ अपने हाथों में लिए और घंटों तक एक-दूसरे को अपने बारे में बताते रहे. अब वे दोनों बिल्कुल अकेलापन महसूस नहीं कर रहे थे. उन्हें एक-दूसरे को चाहने वाले सौ प्रतिशत सम्पूर्ण व्यक्ति द्वारा पा लिया गया था. यह कितनी बढ़िया चीज़ होती है जब आपको चाहने वाला कोई सौ प्रतिशत सम्पूर्ण व्यक्ति आपको पा ले या आप उसे पा लें. यह एक चमत्कार होता है, एक ब्रह्मांडीय चमत्कार.

हालांकि साथ बैठ कर आपस में बातें करते हुए उनके हृदय में संदेह का एक बीज उग आया– क्या किसी के सपनों का इतनी आसानी से सच हो जाना सही होता है?

इसलिए, जब उनकी बातचीत के बीच में एक लघु विराम आया तो लड़के ने लड़की से कहा– 'चलो, आपस में एक-दूसरे की परीक्षा लेते हैं– केवल एक बार. यदि हम दोनों वाक़ई एक-दूसरे के लिए सौ प्रतिशत बने हैं तो कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं हम दोनों ज़रूर एक-दूसरे से दोबारा मिलेंगे. और जब ऐसा होगा और हम जान जाएंगे कि हम दोनों सौ प्रतिशत एक-दूसरे के लिए ही बने हैं, तब हम उसी समय और उसी जगह एक-दूसरे से ब्याह कर लेंगे. तुम क्या कहती हो?'

'हां,' लड़की बोली– 'हमें बिल्कुल यही करना चाहिए.'

इसलिए वे दोनों अलग हो गये. लड़की पूर्व दिशा की ओर चली गयी और लड़का पश्चिम की ओर.

हालांकि, वे जिस परीक्षा के लिए सहमत हुए थे, उसकी कोई ज़रूरत नहीं थी. उन्हें ऐसी परीक्षा की बात कभी नहीं करनी चाहिए थी क्योंकि वे दोनों वास्तव में एक-दूसरे के सौ प्रतिशत सम्पूर्ण प्रेमी-प्रेमिका थे. यह एक चमत्कार ही था कि वे दोनों मिल पाये थे. लेकिन उनके लिए यह जान पाना असम्भव था क्योंकि वे अभी युवा और अनुभवहीन थे. भाग्य की क्रूर, उपेक्षा करने वाली लहरों ने उन्हें बिना किसी दया के इधर-उधर उछाल फेंका.

एक बार सर्दियों के भयावह मौसम में लड़का और लड़की, दोनों ही इन्फ़्लुएंज़ा का शिकार हो गये. हफ़्तों तक वे मृत्यु से

जूझते रहे जिसके कारण उन्हें स्मृति-लोप हो गया. वे सारी पुरानी बातें भूल गये. जब वे दोनों दोबारा ठीक हुए तब तक उनकी स्मृति का कोष इतना खाली हो गया जितनी बचपन में डी.एच.लारेंस की गुल्लक खाली हुआ करती थी.

हालांकि वे दोनों दो बुद्धिमान और दृढ़ व्यक्ति थे और अपने सतत प्रयास से उन्होंने एक बार फिर वे संवेदनाएं और जानकारियां हासिल कर लीं जो उनके समाज के सम्पूर्ण सदस्य बनने की राह में मददगार साबित हुए. ईश्वर का लाख-लाख शुक्र है कि वे दोनों वाकई नैतिक रूप से प्रशंसनीय नागरिक बन गये. वे जान गये कि कैसे एक मेट्रो रेलगाड़ी से उतर कर दूसरी मेट्रो रेलगाड़ी पकड़नी है और कैसे डाकघर में जाकर किसी को स्पीड-पोस्ट भेजनी है. वाकई, उन्होंने कभी-कभी पचहत्तर प्रतिशत या पचासी प्रतिशत तक दोबारा प्यार को भी महसूस किया.

समय हैरान कर देने वाली तेज़ी के साथ गुज़रता रहा और जल्दी ही लड़का बत्तीस वर्ष का हो गया और लड़की तीस वर्ष की हो गयी.

अप्रैल की एक सुखद सुबह, एक कप कॉफ़ी की तलाश में लड़का पश्चिम से पूर्व की ओर चला जा रहा था जबकि लड़की एक स्पीड-पोस्ट करने के लिए पूर्व से पश्चिम की ओर जा रही थी. वे दोनों टोक्यो के हराजूकू इलाके की उसी गली में चलते चले जा रहे थे. उस लम्बी गली के बीच में वे एक-दूसरे की बगल से गुज़रे. उनकी लुप्त हो गयी स्मृतियों की नाम-मात्र की चमक कुछ पलों के लिए उनके ज़ेहन में कौंधी. दोनों के हृदय में कुछ हलचल हुई. और वे जान गये :

–यह मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़की है.

–यह मेरे लिए सौ प्रतिशत सम्पूर्ण लड़का है.

किंतु उनकी स्मृतियों की चमक बेहद क्षीण थी और उसमें चौदह साल पहले वाली स्पष्टता अब नहीं थी. बिना एक भी शब्द बोले वे एक-दूसरे की बगल से गुज़रे और हमेशा के लिए भीड़ में खो गये.

एक उदास कथा, आपको नहीं लगता?

हां. बिल्कुल यही. मुझे उस लड़की से यही कहना चाहिए था.

(जे. रूबिन के अंग्रेज़ी अनुवाद से अनूदित)

अनुवाद : सुशांत सुप्रिय

समय और मनुष्य

यदि कोई युग अपने लिए बड़ा मनुष्य नहीं गढ़ता है तो मनुष्य गढ़ लेता है अपने लिए बड़ा समय.

– रिल्के

हमारे पास मत आओ!

● बोधिसत्व

लोग जा रहे हैं
लाखों लोग जा रहे हैं
पैदल उदास
भूल कर भूख प्यास
दिशा समय धूप छाले
भूल कर चलते जा रहे हैं!

मैं कुछ दूर भाग कर चलता हूं उनकी दिशा में
जैसे मृतक के साथ चलने का रिवाज है
मैं चलता हूं चालीस कदम उनकी ओर
कुछ एक को देता चाहता हूं कंधा
किन्तु यह सब किए बिना
लौट आता हूं खुद तक!

खुद को कंधा देता हुआ पाता हूं!

वे सब मेरे भाई हैं
वे सब मेरे गांव के हैं
वे सब मैं हूं!
वह भीड़ मैं हूं!

वे छाले मेरे पैरों में हैं
वह पानी पीने को अंजुलि पसारे बैठा मैं ही हूं
वह रास्ते में रो रही है मेरी मां
वह दूर गिरा है मेरे बेटे का शरीर निर्जल
वह मेरी बेटी एक राख के चट्टान पर शून्य बैठी है!

उसकी दृष्टि में धूल और राख भरी है
वह रोटी है राख के आंसू!

वह देखो अपने गर्भ को सम्हाले जा रही है मेरी मां!
उससे जन्म लूंगा मैं पैदल यात्रा में मरने के लिए!
रास्ते में कोई नहीं गाएगा मेरे जन्म मरण का सोहर!

इस तीन रंग वाले चक्रधारी झंडे के देश में
ऐसे जाने का कोई निशान नहीं मिलता
न राम ऐसे गए थे
न पांडव न सिद्धार्थ गौतम
हम एक ऐतिहासिक दृश्य हो गए हैं
सुखी लोगों को चमत्कृत करते
समाचारों के लिए ऊब
और सरकारों के लिए सूखी डूब हम!

बहुत दूर है अपनी अयोध्या
बहुत दूर है अपनी मिथिला
रावण खर दूषण के जंगल में घिर गए हैं हम
निहत्थे हम पैदल हम भूखे हम

हमारे धनुष बाण हमने खुद खोए हैं
यह वनवास हमने खुद लिया था
यह वापसी हमारी अपनी है

हम हारे हुए राम हैं भाई
हमारे पुष्पक विमान रावनों की कैद में है
कितने
विभीषण कितने हनुमान कितने बालि कितने सुग्रीव सभी
रावनों से संधि करके पा गए हैं राज्य!

अब नहीं जलती लंका
उसके चौकीदार हम ही थे
उसी लंका से खदेड़े हुए हम
निष्कासित हम
पैदल पैदल अपनी अयोध्या जा रहे हैं!

छालों के जूते पहन कर
उदासी का मुकुट बांधे
पराजय का प्रशस्ति पत्र गले में लटकाए
अश्वमेघ के बलि अश्व की तरह
अपनी भूमि की ओर खिसक रहे हैं हम।

हम लाखों लोग
हम अबोध बच्चे हम बूढ़े लोग
हम युवतियां हम बहुएं हम पराजित पुरुष
हम बिके हुए अवध मिथिला के लोग

हम प्राण बचाते निर्लज्ज अपना घाव दिखाते
यहां वहां धक्का खाते
पेट बजा कर पैसा पाते
घिसत घिसट पैर बढ़ाते
लाखो लोग जा रहे हैं!

हम भीड़ की फोटो हैं
हम पराजय के प्रतीक हैं
हम एक देश की शव यात्रा हैं!

हमें जाते हुए देखो
और उदास हो जाओ
हमें दूर से देखो
हमारे पास मत आओ!

कोरोवायरस

● विवियन

फुसफुसाई थी धरती, पर ध्यान नहीं दिया तुमने
बोली थी धरती, पर सुना नहीं तुमने
चीखी भी थी धरती, पर तुमने दबा दी उसकी आवाज.

और फिर आया मैं...
तुम्हें सजा देने नहीं आया मैं
तुम्हें झकझोरने को आया था.

धरती ने की थी मदद की गुहार
कितनी ही बाढ़ आईं, कुछ नही किया तुमने
लगती रही आग, कुछ नहीं किया तुमने
आते रहे चक्रवात, कुछ नहीं किया तुमने
धरती की आवाज को अब भी नहीं सुनते तुम
जब समंदरों में प्रदूषण से मर रहे हैं समुद्री जीव
खतरनाक रफ्तार से पिघल रहे हैं ग्लेशियर
पड़ रहे हैं अकाल
असीम नकारात्मकता को जज्ब कर रही धरती
अंतहीन युद्ध
अंतहीन लिप्सा-
सबको करते रहे तुम नज़रअंदाज
तुम तो बस अपनी जिंदगी जीते रहे
चाहे बेशुमार नफ़रतें रहीं चारों ओर

चाहे कितने ही लोग मारे गए रोज
धरती की पुकार की चिंता करने के बजाय
तुम्हारे लिए ज्यादा मानीखेज था
लेटेस्ट आईफोन हासिल करना.

पर अब मैं आ गया हूं
और मैंने दुनिया को जहां का तहां रोक दिया है
मैंने तुम्हें सुनने को मजबूर किया है
मैंने तुम्हें छिपने को मजबूर किया है
तमाम भौतिकता के बारे में सोचने से
मैंने तुम्हें रोक दिया है
अब तुम चिंतित हो
अपनी जान बचाने को.

कैसा लग रहा है अब तुम्हें?
मैंने तुम्हें ताप दिया, जैसे आग से तपी थी धरती
मैंने तुम्हारा सांस लेना दुश्वार किया
जैसे धरती की वायु में घुला था प्रदूषण
मैंने तुम्हें कमजोर किया
जैसे रोज कमजोर होती जाती है धरती
मैंने तुम्हारा चैन,
तुम्हारा बाहर जाना
सब छीन लिया
इन सबके जरिए ही तो तुम भूलते थे
धरती और उसके दर्द को,
और इस तरह मैंने दुनिया को रोक दिया.

और अब
चीन की आबोहवा साफ है
आसमान नीलम-नील है
क्योंकि धरती की हवा में
प्रदूषण नहीं घोल रहे कारखाने
वेनिस का पानी साफ-शफ्फाक है
क्योंकि पानी को गंदा करने वाली
गोंडोला नौकाएं थमी हुई हैं.

अब तुम्हारे पास यह सोचने के लिए वक्त ही वक्त है
कि तुम्हारे जीवन में महत्वपूर्ण क्या है.

फिर साफ कर दूं, तुम्हें सजा देने नहीं आया मैं
मैं तो बस तुम्हें झकझोरने को आया
जब यह सब गुज़र जाएगा और मैं चला जाऊंगा
इस दौर को बस याद रखना,
धरती की पुकार सुनते रहना,
अपनी आत्मा की आवाज सुनते रहना,
धरती को प्रदूषित मत करना,
आपस में मारकाट मत करना,
भौतिक चीजों का मोह मत करना,
और अपने पड़ोसियों से स्नेह रखना,
धरती और इसके सभी जीवों का खयाल रखना,
सर्वशक्तिमान में आस्था रखना.

... क्योंकि अगली बार मैं आया, तो
और भी घातक बनकर आऊंगा...

अंग्रेजी से अनुवाद : भुवेंद्र त्यागी

सन्नाटा

● अनिल जोशी

कभी कभी बोलने लगता है सन्नाटा,
सन्नाटे के पास माइक्रोफोन नहीं होता
भीड़ नहीं होती,
झूठ नहीं होता, सच नहीं होता
जब कोई सच बोलता है तो सच नहीं सुनता मैं
बोलने वाले को सुन रहा होता हूं.

सन्नाटे के पास शब्द नहीं होते, भाषा नहीं होती
सिर्फ हवाएं होती हैं,
मेरे हिस्से में आयी सांस
कब हवा हो जायेगी, नहीं जानता,
जानता हूं इतना कि मैं सन्नाटा हो जाऊंगा
और हवाएं चलती रहेंगी.

गांधी ने की थी पदयात्रा कभी
अब मज़दूर कर रहे हैं सड़कों पर, रेल की पटरियों पर
राह की नदियां मज़दूरों से पूछती हैं
प्यास लगी है हमें,
अपने पसीने का पानी दे दो,
पसीने के सन्नाटे के पास चीख होती है, भूख होती है
बगैर रोटियों की थालियां बजाने से
डिस्टर्ब होता है सन्नाटा.

सब अपने घरों में बंद हैं
सन्नाटा बोलता है, हवाएं चलती है,
मेरे देश को फूलों की बहुत ज़रूरत है
लाशों को ढकने के लिए
मौत को फूल पसंद है!

धारावाहिक उपन्यास

(ग्यारहवीं किस्त)

योगी अरविंद

● राजेंद्र मोहन भटनागर

शिलांग पहाड़ी प्रदेश था. प्रकृति उस पर खूब मेहरबान थी. जी खोलकर उसने अपनी अपूर्व सम्पदा लुटा दी थी. मृणालिनी का अब वही घर संसार था.

कभी-कभार अरविंद का पत्र आता था. सूचनाएं मिलती थीं और उनके न होने पर भी उनकी अनुभूति सघन और गहन होने लगती थी. चित्त आर्द्र हो उठता था. दिवस का अवसान अरुणाभा लिये पहाड़ियों के पीछे से झांकता हुआ प्रतीत होता था. देवदारु के दरख्तों पर उसकी अरुणाभ छाया सुस्ता कर उठने का प्रयत्न करती लगती थी.

मृणालिनी को लगने लगा था कि वह अकेले ही उस निर्जन, सन्नाटे से लदे, अपरिचित राह की अजनबी सैलानी बनकर रह गयी है. कोई उसे नहीं जानता और जो उसको जानते हुए भी प्रतीत होते हैं, वे उसके आकार और उसकी धूप-छांव को थोड़ा बहुत जानते हैं. अपनों के बीच बने रहकर सबसे अनजान बना रहना कितना आत्मीय लगता है. वह अनुमान लगाती है और उसी आनंद से मंत्रमुग्ध हो जाती है. परंतु वह तो एकदम अकेली पड़ गयी है जीने के लिए तो किसी के होने की ज़रूरत है. किसी ऐसे के होने की जिस पर तन-मन-धन सब लुटाया जा सके और वह भी खुशी-खुशी से.

बादलों की ओट में सरकता आता शिलांग अब किसी थके प्रवासी-सा शिथिल होता जा रहा था. कब से देखती आ रही

मृणालिनी शिलांग की सुबह, दोपहर, संध्या और रात को, आंखें खोले कभी चुपचाप, कभी सखी-सहेलियों के साथ और कभी कूदती-फांदती, पहाड़ी नाले से छलांग भरती, सुमन उछालती और निर्झर से गद्गद होती, गुदगुदाती हुई आम्रमंजरी-सी. सावन-सा इठलाता बिना दस्तक दिये चला आया और जब आंख खुली, तब मदालु यौवन इंद्रधनुष बना एकदम खामोश था.

चिर परिचित इंद्रधनुष-सी आंखें खोली, सपनों के नव मेघों से घिरा, पार्श्व से गुजरती नदी का आंचल लहराता हुआ टहनियों पर झूल झूल जाता है, आत्म-विस्मृत हुआ. मृणालिनी ने उन सबको अपने में जिया है, उनकी सरगम ध्वनियों को डूबकर सुना है, उनकी धड़कनों की गर्माहट का अननुज्ञात अनुभव किया है.

मृणालिनी को पाजेब की जलतरंग अब नहीं सुहाती और इंतज़ार करने की घड़ियों की मादक चुभन अब उसे नहीं सहला पाती. लगता नहीं कि इंतज़ार की राह का कोई छोर हाथ लगेगा. राह पर फिसलन है, पतझड़ है और ऊबड़-खाबड़ सम्भावनाओं की जटिलता का जंगल है. उजाले की बाहों में अनचाहा अंधेरा सिमट कर बिखरने लगा है. फिर भी वह उस टहनी को देखे जा रही है, जिस पर तीन दिन से मात्र एक पत्ती ठहरी हुई है, पूर्ण विश्वास और इस आशा से कि पतझड़ उसे छू नहीं पायेगा.

बाईस बसंतों का लेखा-जोखा यदि वह तैयार करे तो उसके हाथ क्या आयेगा? पर वह क्यों तैयार करे. व्यर्थ का उद्यम क्यों ज़िंदगी बिल्कुल पास से गुजरती जा रही है फिर भी उसे इसकी आहट भी सुनाई नहीं पड़ रही है. उसे पता भी नहीं चला कि कब से उसका मौसेरा भाई मुनींद्र उस उद्यान के एक कोने में खड़ा हुआ उसको देख रहा है और वह है कि आंखें बंद किये अपने अंधेरे में उजाले की एक किरण तलाश रही है. जैसे उसने आंखें खोली, वैसे ही उसका ध्यान उस पर गया. वह चौंकी और दूर ही से पूछ बैठी– 'भैया तुम वहां कब से खड़े हो?'

'जब से तुम आंखें बंद किये महासमुद्र की उतार लहरों को देख रही हो.'

'मैं किसी समुद्र-महासमुद्र को नहीं देख रही, मुनि.'

'तो भी कुछ तो देख रही होगी अंतर्धान की सहज मुद्रा में लीन हुई.'

उसने अपने आप को संभालते हुए पूछा– 'आजकल क्या कर रहे हो?'

'कुछ तो कर ही रहा हूं पर मक्खी नहीं मार रहा हूं.'

'क्या मक्खी मारना काम नहीं है?' मृणालिनी ने उसे छेड़ते हुए पूछा.

'काम तो वह भी है, दीदी, जो इस वक्त तुम कर रही थी.'

'चलो किसी ने तो अपनी दीदी को रोजगार में संलग्न पाया. पक्षियों की तरह.'

'क्या मतलब!'

'हर चीज़ ईश्वर ने मतलब के लिए नहीं पैदा की है दीदी. बहुत-सी चीज़ों का कोई मतलब नहीं है, जैसे इस होने वाली दोपहर का या ढलने वाली संध्या का.'

'आजकल तुम बहुत बड़ी-बड़ी बातें करने लगे हो, मनु.'

'पर अपने जीजा जी से कम, दीदी.'

'उनको बीच में मत लाओ. यह बड़बोलापन है.'

'तुम तो नाराज़ हो गयी दीदी, हमारे जीजा तो करोड़ों में एक हैं. उनका कोई खत आया क्या?'

'बारीन बता रहा था उनके पीछे ब्रिटिश सरकार की खुफिया पुलिस लग चुकी है. उसे यह भी ज्ञात हो चुका है कि वे चंद्रनगर छोड़कर पांडिचेरी पहुंच गये हैं. वहां भी ब्रितानी सरकार फ्रांसीसी सरकार पर दबाव बना रही है. उसकी यह भी कोशिश हुई थी कि उन्हें वहां से उठवा लिया जाए.' मृणालिनी चीड़ के वृक्षों की ओर देखते हुए सोचे जा रही थी कि इन विषम परिस्थितियों में क्या किया जाए.

'वे कोलकाता बंदरगाह से 1 अप्रैल को रवाना हुए थे, 4 अप्रैल को वहां पहुंचे. सौभाग्य था जो सरकार की पुलिस और गुप्तचर विभाग पूरी सतर्कता बरतने पर भी उन पर हाथ नहीं डाल सका. पता नहीं आगे क्या हो? कहते हैं कि पांडिचेरी कोई खास सुरक्षित स्थान नहीं है.'

'यहां से तो ज़्यादा सुरक्षित स्थान है.'

'जाने अब कब लौटना हो? हो भी या...'

'नहीं दीदी ऐसा नहीं सोचते. सब अच्छा ही होगा. ईश्वर पर विश्वास रखना चाहिए.'

'तूने ईश्वर देखा है मुनि.'

'नहीं.'

'तूने किसी ऐसे व्यक्ति को देखा है जिसने ईश्वर देखा हो.'

कुछ सोचकर मुनींद्र कहता है, 'हां देखा है.'

'किसे?'

'अपने जीजा जी को. वे बता रहे थे...' कुछ सोच कर फिर आगे कहने लगता है, 'उसका नाम याद नहीं आ रहा है कि जिसका आगे का जीवन ईश्वर के हवाले था. परंतु अपने जीजा तो वही करेंगे जो वह आदेश देगा, चंद्रनगर जाने का आदेश उन्हें ईश्वर ने ही दिया था.'

'ये तुझसे किसने कहा, मुनि.'

'मुझसे नहीं, सुदेश दा से कहा था.'

'किसने?'

'कुछ याद नहीं पड़ रहा, पर कहा था, मैंने अपने कानों से सुना है.'

'उन्होंने मुझसे भी कहा था.'

'तो फिर?'

'तो फिर क्या, बच्चू! यह क्या विश्वास करने योग्य बात है? ...सुधीरा भी चक्कर में पड़ गयी. मृणालिनी ने गहरी सांस छोड़ते हुए सामने की ओर देखा. सुधीरा उसकी

तरफ ही बढ़ी चली आ रही थी. प्राय: वह जब भी आती थी, तब उनसे जुड़ी कोई खास खबर को लेकर ही आती थी.'

'तो क्या हुआ, मुनि.'

'मुझे एक काम याद आ गया है.' मुनींद्र यह कहकर दूसरी ओर से बाहर की ओर चला गया. सुधीरा ने आते ही पूछा, 'ये मुनींद्र कुमार बोस ही था न मृणालिनी.'

'हां, सुधीरा.'

'मुझे देखते ही पगला ठहरता नहीं है, किसी-न-किसी ज़रूरी काम को यादकर चल पड़ता है.'

'शुरू से झेंपू रहा है.'

'कुछ लड़के तो लड़कियों की एकांत उपस्थिति से बेहद घबराते, डरते और सकपकाते हैं. ईश्वर को उसे लड़की बनाना चाहिए था.'

'आजकल तू ईश्वर की बहुत दीवानी हो रही है, सुधीरा.'

'समय ही ईश्वर का है, मृणालिनी. तेरे वे भी ईश्वर का अनुगमन कर रहे हैं– उसके अतिरिक्त वे किसी की सुनते-मानते ही नहीं हैं. तेरा धर्म-कर्म उनसे पंडितजी ने ऐसा जोड़ दिया है कि मानना तुझे भी ईश्वर पड़ेगा.' सुधीरा ने शांत भाव से कहा.

'क्यों? मन नहीं माने तो भी क्या?'

'तू तो अपना मन उनके हवाले तब ही कर चुकी थी, जब तून उनके साथ गठबंधन बना लिया था और अग्नि को साक्षी मानकर उन्हें अपना स्वामी मान लिया था फिर तेरे पास शेष क्या रह जाता है? ...पत्नी को पति का धर्म, उसकी जाति और उसी की चौखट कबूल करनी पड़ती है– राज़ी या गैर-राज़ी. कोई आनाकानी नहीं, कोई ज़रा-सी भी हील-हुज्जत नहीं–पति ही उसका परमेश्वर हो जाता है. यह बात मैं तुझे पहले भी समझा चुकी हूं लेकिन तू है अपनी ऐंठ में पागल हुए जा रही है. मृणालिनी, अब तुझे अच्छी तरह समझ जाना चाहिए– तुझे उसी रास्ते पर चलकर अपनी शेष ज़िंदगी गुजारनी है, जिस पर तेरा पति चाहे. ...तेरे पास कोई ऑप्शन नहीं बचता. ...पत्नी का भला भी उसी में है.' सुधीरा ने एक टहनी हाथ में उठा ली और टहलते हुए वह कहती गयी.

'तू उपदेश देना कब छोड़ेगी?'

'सच-सच सुनना चाहती है तो सुन, मृणालिनी, जब तू पांडिचेरी पहुंचेगी.'

'कब पहुंचूंगी, कैसे पहुंचूंगी? डेढ़ बरस से ऊपर हो चुका है... याद करते हुए, डेढ़ बरस से ऊपर.'

'तू उर्मिला को सदा याद रखना. उस बेचारी ने चौदह वर्ष का वनवास पाया था– महल में रहकर वनवास को भोगना कोई उससे ही जाने कि उसने किस तरह तिल-तिलकर एक-एक पल काटा था. पति तो रामभक्त था, वह तो तुरंत चल पड़ा. उसने तो एक बार भी उर्मिला से नहीं पूछा कि 'मैं जा रहा हूं, तुझे कुछ कहना

तो नहीं है. ...युधिष्ठिर तो जुए में सब कुछ हार बैठे थे– अपने भाई, पत्नी द्रौपदी, राजपाट वे पहले ही हार गये थे. ...आश्चर्य विदुर जैसे अपने युग के नीति विशारद्, युधिष्ठिर के चाचा, दुर्योधन की ओर से चौसर खेलने का निमंत्रण लेकर स्वयं अपने भतीजे के पास गये और किस अधिकार से युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दांव पर लगाया था. पत्नी अर्धांगिनी होती है, पति की सम्पत्ति नहीं. पर द्रौपदी अर्धांगिनी कहां रही– मात्र पंडित के वचनों तक.' सुधीरा की समझ में यह नहीं आ रहा था कि पत्नी कब पति के बराबर का मान वास्तव में पा सकेगी! ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के उदाहरण नहीं हैं, जब पत्नी यज्ञ में पति के साथ बैठती थीं. वे युद्ध में भी पति के साथ जाती थीं, वह वहां पति की सहायता भी करती थीं. पर कितनों को ऐसे अवसर मिले? उसे शारदा देवी मणि ने भी समझाया था, 'सुधीरा तू चित्त को स्थिर रखा कर.'

'क्यों मां, ऐसा आपने मुझमें क्या खोट पाया? सुधीरा पूछती रह जाती, अपलक नयनों से निहारते हुए.'

'तू तो एकदम खोट रहित है, सुधीरा.'

'फिर मां.'

'तू स्त्री जाति के बारे में कुछ ज़्यादा ही सोच जाती है– खासकर स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) के सम्बंधों को लकेर. तू पूजा-अर्चना में मन लगा.'

'लगाती हूं, मां, जितना लग पाता है.'

'एक बात सुन, सुधीरा.'

'एक क्या, मैं आपकी हज़ार बात सुनने के लिए तैयार हूं, मां. आप आदेश तो करें.'

'आदेश करने वाला तो एक वही है, सुधीरा.' शारदा देवी मणि ने मद्धिम स्वर में कहा और ऊपर की ओर देखती रह गयी.

'मेरे लिए तो एकमात्र आप ही हैं, मां.'

शारदा देवी मणि ने गहरी सांस ली और फिर कुछ सोचते हुए कहा, 'सुधीरा, मृणालिनी से तूने बहनापा जोड़ रखा है तो उसके फर्ज़ को भी निभा.'

'निभाने का प्रयत्न तो करती हूं.'

'थोड़ा और डूबकर निभा. उसका मन पलट. उसे पति का मार्ग अपनाने के लिए अंदर से तैयार कर.'

'और कैसे मां?'

'विद्रोह की अग्नि उठाकर पानी के छींटें मारने से क्या होगा, सुधीरा.' ये चित्त की बातें हैं, चित्त की ही मानेंगी. पति के मार्ग पर चलने के लिए जितना तू कर सके, कर. उसे मना, यही तेरा धर्म है. इस समय वह बहुत उद्विग्न है, पहाड़-से दुख से घिरी है और आशंकाओं की नींव पर खड़ी है. ...कभी उसे मेरे पास लाना, सुधीरा.

'ज़रूर लाऊंगी मां.'

'कभी-कभी मेरा मन उस पर इस तरह आता है मानो वह मेरी पुत्री हो. एकदम

एक अबोध, दीन-दुनिया से परे, सात्त्विक कर्म में अनुरत, शांत-सुशीला बालिका-सी मेरे सामने आ खड़ी होती है. पूछना चाहती है पर पूछती नहीं. क्या पूछे. छि:-छि:-छि: यह भी कोई पूछने की बात है. ...छलना क्या पूछी जाती है. ...कौन-किसको छलता है. वह बावरी यह नहीं जानती. बस, कुछ शब्दों को उछालकर अपने मन का हो जाने देती है. उसके मन में कोई पाप नहीं है. वह विशुद्ध आत्मा है. ...लाना, भला, सुधीरा.'

मृणालिनी मुस्कराकर बोली, 'पर मेरे पति परमेश्वर उनमें से नहीं हैं. वे दिव्य पुरुष हैं. जब वे बोलते हैं, तब मुझे लगता है कोई अपार्थिव दिव्य मृदु स्वर मुझे सम्मोहित करता जा रहा है.'

'फिर, सोच कैसा?'

'यह मैं नहीं जान पाती, सुधीरा, कि यदा-कदा मैं अपने में क्यों नहीं रह पाती? ऊंचाइयों का मुझे अनुभव नहीं है. मैं मात्र सामान्य नारी मृणालिनी हूं– हांड़-मांस की हज़ारों हजार नारियों में से एक. मुझे अपनी सीमा ज्ञात है, सुधीरा, पर...'

'पर क्या?'

'ये मन नहीं मानता. कभी-कभी ऊल-जलूल बातें उठाता है. पूछता है, क्या तू योगी की योगिनी बन सकती है? उसे पत्नी नहीं, योगिनी चाहिए. ...मैं स्वप्न में भी योगिनी नहीं बन सकती. चित्त संभाल लेती हूं, मन को पहले से बांध पटकती हूं, पर कब तक? मन जीत जाता है, सुधीरा, मैं हार जाती हूं. यह अनजानी अपरिचित और अनचिह्नित लड़ाई कब तक? ...कब तक?... मृणालिनी का हृदय छलछला आया. उसकी वाणी अवरुद्ध होने लगी. वह लम्बे-लम्बे वृक्षों की छाया देखने लगी. जब पास कोई नहीं होता है, तब वह अपना सहचर प्रकृति में से ही चुनती है.'

'इस कब की भी एक सीमा है. सीमा तो हर एक जीव-निर्जीव सबकी है. तू धैर्य रख. प्रयत्न कर कि मन भक्ति में रमे. भजन में तेरा मन एकाग्र हो, और तुझे लगने लगे कि तुझमें कोई और गा रहा है, तू तो सिर्फ मुंह चला रही है. क्या कशिश है तेरी आवाज़ में...'

'बस भी कर, सुधीरा. मैं अपने को जानती हूं. हां, इतना सच है कि मैं भजन गाते हुए अपनी सुध-बुध नहीं रख पाती. पता नहीं, मुझे क्या होता है कि मैं कुछ समय के लिए भजनमयी हो जाती हूं तब मैं मृणालिनी नहीं रह पाती.'

सुधीरा उसकी तरफ नहीं देख पाती. उसके चित्र में एक साध्वी की तस्वीर उभरती! मां शारदा ने कितना सच कहा है, वह तपस्विनी स्वरूपा है. सानुकम्प हृदय. सचमुच वह यथानाम तथागुण है– अपने अरविंद की मृणालिनी. वह गम्भीर होकर बोली, 'यही तो मेरा योग है. जो अपने को भुलाकर उस सर्वानंद, अलौकिक, परम पुरुष में डूब जाता है और डूबकर

लौटा आता है, मां शारदा बताती हैं, वही योग है. तू इसी में रम, इसी को भज, यही तेरा उद्धारक है और तेरे पति का अविनाशी वासुदेव.' सुधीरा के मन में मां शारदा की वाणी गूंज उठी.

मृणालिनी कुछ नहीं बोली. वह पेड़ की टहनी पर बैठे नीलकंठ को अपलक देखती रही. सोचती रही कि शकुन अच्छा है. नाक का स्वर अनुकूल है. उसे लगा कि पपीहा पी-पी बोलने वाला है. ...होने में है परंतु क्या यह सम्भव होगा? अभी तक तो कभी हुआ नहीं है.

'अब मुझे लौटना होगा, मृणालिनी.'

'इतनी जल्दी! नहीं. अपने घर चलते हैं– नाश्ता लेंगे.'

'नाश्ता उधार रहेगा, मृणालिनी.'

'सुधीरा, क्या तुझे नाश्ते से वंचित रखना चाहेगी? कोई हो तो नाश्ता गले के नीचे उतरे, भोजन का मन बने! अकेले कैसा नाश्ता, कैसा भोजन? रसोई तभी सजती है, व्यंजनों की महक तभी महकती है, जब उसको साथ देने वाला कोई अपना हो, आस्वाद के मृदु स्वप्न बिखेरता हो. ...क्यों है न, यही...' मृणालिनी के नूपुरों की यह रुनन-झुनन अपने मन को खोलकर सुधीरा के मन को बांध गयी. दोनों घर आयी. मृणालिनी के साथ वह रसोई में आ गयी. पकौड़ी तलने लगी. चाय का पानी चढ़ा दिया. बेसन के लड्डू निकालकर प्लेट पर सजा लिये. सुधीरा शांत बनी रही. वह जो खिलायेगी, वही खायेगी, कोई नाज़-नखरा नहीं– न ज़रा-सी भी नाह-नूह. उसका हृदय गद्गद हो रहा था. कम-से-कम इस बहाने वह कुछ, मन से, खा सकेगी. उसने गहरी सांस ली और चाय को केटली में डालने लगी. मृणालिनी ने भी उसे टोका-रोका नहीं. वह प्लेट सजाकर ट्रे में रखने लगी. मृणालिनी पहला घान निकाल चुकी थी. शायद उतनी पकौड़ियां उन दोनों के लिए पर्याप्त होंगी और ज़रूरत हुई तो वह दूसरा घान और निकाल लेगी. यह सोचते हुए वह अपने कमरे की ओर चल पड़ी. चटनी, अचार सुधीरा ने लिये और दोनों आ गये पिकनिक मूड वाले सहज अंदाज़ में.

●●●

> और वे उपवास ले बैठे. पहले यह नहीं सोचा था कि उनका यह उपवास कितने दिन चलेगा. केवल इतना जानना चाहा था कि बिना भोजन किये मनुष्य कितने दिनों तक सक्रिय बना रह सकता है.

आज सुबह समय से पहले जग गयी थी. उसका मादक उजास कोने-कोने में भर गया था. चिड़ियाएं चहक उठी थीं. कहीं दूर से गिटार की मधुर ध्वनि आ रही थी. पवन में लोच थी. हल्की-सी ठंडक थी. अरविंद के मन में किसी बनजारे से सुना गीत

गमक उठा था. वे खुली आंखों से ईश्वर के चित्त का अनुभव कर रहे थे. उनका मन एकदम नि:स्वन था और उनका चित्त मन के स्वत: समर्पण से इंद्रधनुष-सा मौन तथा सतरंगी हुआ आकाश-सा आह्लादित हो रहा था.

अरविंद को छह माह बाद, धनाढ्य शंकर चेट्टी के चेट्टी हाउस को छोड़ना पड़ा. यह मकान उनके लिए सुभीताजनक था. वे इस मकान में ऐसे बंद हुए थे कि हवा को भी उनका पता नहीं चले. यहां निरंतर ध्यान, योग, अध्ययन का क्रम जारी रहा. एक दिन, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, उनके जीवन में चुपचाप समा गया. अरविंद को अंत:प्रेरणा प्राप्त हुई और वे उपवास ले बैठे. पहले यह नहीं सोचा था कि उनका यह उपवास कितने दिन चलेगा. केवल इतना जानना चाहा था कि बिना भोजन किये मनुष्य कितने दिनों तक सक्रिय बना रह सकता है. इससे पूर्व वे उपवास अनेक बार कर चुके थे परंतु आठ-दस दिन का.

उगते सूर्य को साक्षी मानकर वे उपवास कर बैठे. अब उनका मौन और गहरा हो गया. वे पूर्ववत् आठेक घंटे चलते-फिरते रहते थे. साथ में साधना योग और लिखाई-पढ़ाई के कार्य को जारी रखते थे. उन्हें कभी थकान महसूस नहीं हुई, न कभी निर्बलता का एहसास हुआ. अठारह दिन बाद उनका वजन कम हो गया और मांस-मज्जा का बढ़ना रुक गया.

तेईसवां दिन आ पहुंचा. घटते मांस-मज्जा की पूर्ति का कोई उपाय वे तलाश नहीं कर सके. उनका वजन बारह पाउंड कम हो गया था परंतु कार्य क्षमता, ध्यान, योग आदि में तनिक-सी कमी नहीं आयी थी. उल्टे उनमें नव शक्ति पैदा हुई थी और अनेक समस्याओं का समाधान मिल सका था. उन्हें अनुभव हुआ कि वे इसके दसेक दिन बाद भौतिक तत्त्वों की अपेक्षा प्राणिक स्तर से नव शक्ति पा रहे हैं. प्राण उनको ऊर्जा दे रहे हैं. श्वास को प्राणायाम से साध रहे हैं.

उपवास के तुरंत बाद पूर्ववत् ही भरपेट भोजन किया जो उपवास नियम के विरुद्ध था लेकिन उससे उन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा.

इन दिनों वे किसी से मिले भी नहीं. अपने को निर्जन एकांत में ले जाकर उस परमसत्ता के अनुभव का प्रयास किया.

चेट्टी का मकान छोड़कर वे उससे छोटे एक मकान में आये. उन्हें यह बताया गया था कि इस मकान में पांडिचेरी प्रवास में स्वामी विवेकानंद भी वहीं ठहरे थे. वे सोच रहे थे कि उन्हें वहां उनकी अनुभूति हो सकेगी पर ऐसा कुछ नहीं हुआ.

गरीबी उनसे साये की तरह जुड़ी हुई थी. दो छोटे कमरे का मकान लिया था. तीन साथी उनके साथ थे. फर्नीचर के नाम पर एक छोटी मेज और दो कुर्सियां

थीं. शयन फर्श पर होता था. उनके बीच में एक तौलिया था, जिसकी बारी सबसे अंत में उनकी आती थी. नहाने की बारी भी उनकी सबसे अंत में आती थी. धनाभाव बना हुआ था. भरपेट भोजन भी कभी-कभी नहीं मिलता था. वे अपने साथी लड़कों को फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि का अध्ययन सीधे साहित्यिक पुस्तकों से कराया करते थे. वे पुस्तकें उच्चकोटि की होती थीं. उनको इससे नया अनुभव हो रहा था और वे सोच पा रहे थे कि कोई ज़रूरी नहीं है कि किसी भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन का प्रारम्भ भाषा की प्राथमिक पुस्तकों से कराया जाए और वे पुस्तकें साहित्य की न हों. कोई भाषा उसकी साहित्य की पुस्तकों की अपेक्षाकृत भाषा सीखने की पाठ्य-पुस्तकों से जल्दी और अधिकारपूर्ण सीखी जा सकती है. वस्तुतया भाषा और उससे सम्बंधित साहित्य पढ़ाने में उनको नये-नये अनुभव हुए. साहित्य की बारीकियों में और गहरे उतर सके. उनकी कल्पनाओं के यथार्थ की मनोभूमि का अंतर्भूत आनंद ले सके. रस द्वय उनके चित्त की रसात्मकता को बहुत ऊंचाइयों पर ले जाता था, जहां से लौटने का उनका मन नहीं होता था.

अरविंद पुस्तकें मंगवाते. उन पर उनका रुपया-पैसा अधिक व्यय होता था. वे देर रात तक अध्ययन करते थे जबकि उनके साथी सो जाते थे. उनके पास दो लैम्प थे. मोमबत्ती वाला लैम्प वे अपने पास रखते थे और मिट्टी के तेल वाला लैम्प दूसरे कमरे में काम आता था. फर्श पर वे सोते थे. उनको सोना ही कितना होता था– मात्र तीन-चार घंटे का और कभी-कभी इससे भी कम.

आज विजय नाग और मणि चक्रवर्ती दोनों ही कुछ नहीं सोच पा रहे थे कि क्या करें, किसके पास जाएं. मणि चक्रवर्ती ही तो श्रीनिवासाचारी के पास अरविंद का पत्र लेकर पहले पहल पांडिचेरी पहुंचा था– 31 मार्च, 1910 को. वे एक क्रांतिकारी थे और एक तमिल पत्रिका के सम्पादक. उनके सहयोगी थे तमिल के प्रसिद्ध कवि सुब्रह्मण्यम् भारती. विजय नाग ने कहा, 'मणि, अब क्या किया जाए?'

'क्या श्रीनिवासाचारी या सुब्रह्मण्यम् भारती से इस सम्बंध में कुछ कहना ठीक रहेगा.'

'यह मैंने कभी नहीं सोचा था कि कंगाली हालत यहां तक पहुंच जाएगी कि आज रात के लिए भोजन का कोई प्रबंध नहीं हो सकेगा.' विजय नाग के स्वर में हताशा का पुट था.

'कल ही तो वे कह रहे थे कि आत्मा कमज़ोर के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती– नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः. वे उपनिषद् के इस कथन से यही तो समझा रहे थे कि अल्पस्थाई रुकावटें, बाधाएं, कठिनाइयां इसीलिए आंख दिखलाती हैं कि हम अपने

विश्वास की गहराई से यह परीक्षा कर सकें कि हम कितने पानी में हैं. जब तक आत्मविश्वास को राजसिक अहंकार तथा आध्यात्मिक गर्व से दूर नहीं रखा जा सकेगा तब तक उसे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती. ...तब क्या हमें उनके पास जाना चाहिए?' मणि चक्रवर्ती ने थके स्वर में कहा.

'क्या हमें गुरुदेव से बात नहीं करनी चाहिए?'

'नाग, क्या यह उचित रहेगा कि हम छोटी-छोटी बातों के लिए उन्हें कष्ट दें?' मणि चक्रवर्ती ने ऐसे पूछा जैसे वह अपने आपसे प्रश्न करके उसका कोई हल निकालने वाला हो.

'यह तो मैं भी नहीं चाहता, मणि. पर दूसरा कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा है. सुखेन दा ने कितना सच लिखा कि वे वहां से उन्हें कोई सहायता नहीं पहुंचा सकते हैं. सरकार की आंखों में ऐसे व्यक्ति क्रांतिकारियों से कम खतरनाक नहीं होंगे. वह उनके विरुद्ध कार्यवाही शुरू कर देगी. फिर भी, सोचूंगा कि कोई गुप्त रास्ता निकल आये. लेकिन इतना स्पष्ट कह देना चाहूंगा कि सुकुमार मित्र जो कि अरविंद के निकट के सम्बंधी भी हैं, उनकी बात से इत्तिफाक रखते हैं कि ऐसे नाजुक समय में अर्थ सम्बंधी हल अपने स्तर पर निकालने के तरीके तलाश लेना अधिक विश्वसनीय रहेगा.'

'क्या हमें कुछ करना चाहिए?'

'जैसे.' विजय नाग कुछ ठहरकर पूछता.

'जिससे दो पैसे हाथ आ सकें और अपनी व्यवस्था ठीक ढंग से चल सके.' मणि चक्रवर्ती सहज में कह जाता.

'गुरुदेव के सामने कभी ऐसा प्रस्ताव भूलकर भी मत रखना, मणि.' विजय नाग तपाक से कह देता.

'समझ सकता हूं. वे हर विषम-से-विषम परिस्थिति में ईश्वर का साथ नहीं छोड़ेंगे. अब तो उन्हें अपने तेईस दिन के उपवास से यह विश्वास और हो गया है कि प्राणिक जगत् से शक्ति प्राप्त कर भोजन पर निर्भर रहने की आवश्यकता से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है.' मण चक्रवर्ती सोचते कहता होता कि उसका ध्यान वातायन पर चल जाता, जहां एक छिपकली किसी कीड़े का शिकार, एकदम शांत, निर्जीव-सी पड़ी, करने की प्रतीक्षा कर रही थी.

'रुपए का काम रुपए से ही होगा. ...अपने बारे में मैं गुरुदेव की तरह प्राणिक जगत् से प्राप्त शक्ति पर निर्भर नहीं रह सकता.'

हम उनकी तरह न तो दृढ़ संकल्पी हैं और न आत्मविश्वासी.

'यों क्यों नहीं कहता कि हम संसार से अलग ज़रूर हुए हैं, लेकिन संसार हमें नहीं छोड़ता.' विजय नाग सहज होकर

> कोशिश कर लेता हूं पर अधिक समय उस लिखने के सोचने पर निकल जाता है कि क्या वह लिखना ज़रूरी है! नहीं लिखा जाए तो क्या मानवता एक उपकार से वंचित रह जाएगी.

कहता.

'ठीक. वैसे गुरुदेव कहते हैं कि वे कम्बल छोड़ना चाहते हैं परंतु कम्बल उन्हें नहीं छोड़ता, मणि चक्रवर्ती' कुछ सोचकर वह आगे कहता, 'सरकार हाथ धोकर उनके पीछे पड़ी है, मणि. उनका पांडिचेरी में रहना ब्रितानिया सरकार की नींद हराम कर रहा है. गुप्तचरों की टोलियां गुरुदेव का पीछा कर रही हैं. ...सरकार गुंडे भी भिजवा चुकी है ताकि उनका अपहरण हो सके. फिर उसने फर्जी राजद्रोहात्मक रिकॉर्ड तैयार करवाये, जिसमें पत्र, फोटोग्राफ्स, नक्शे निर्देशन आदि थे. उन्हें एक डिब्बे में बंद करवाकर एक क्रांतिकारी के घर के पास के कुएं में डलवा दी. वह क्रांतिकारी गुरुदेव का मित्र था. अब यह सूचना फ्रेंच पुलिस तक पहुंचानी थी ताकि क्रांतिकारियों की तलाशी ली जाए.'

'और वह डिब्बा फ्रेंच पुलिस के हाथ लग जाए और फ्रेंच सरकार को वे प्रमाण मिल जाएं, जिनके आधार पर ब्रिटिश सरकार उन पर दबाव डाल रही थी.'

'और ऐसा ही हुआ.'

'गुरुदेव ने उस क्रांतिकारी को समझा दिया था कि वह चिंता नहीं करे. पहला काम तो वह यह करे कि फ्रेंच पुलिस को उस डिब्बे की सूचना दे दें कि उसकी नौकरानी कुएं से पानी खींच रही थी तो उसकी बाल्टी के साथ एक बंद डिब्बा भी आ गया है?'

'और उसने वैसा ही किया. उसने डिब्बे में से संदिग्ध सामग्री निकाली. उसमें मां काली की तस्वीर थी, कुछ योजनाएं थीं, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही की सूची थी, नक्शा था और कुछ स्थानों के नाम थे. उससे स्पष्ट था कि पांडिचेरी में रहकर कुछ क्रांतिकारी ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलटने का षड्यंत्र रच रहे हैं.'

फिर क्या था, छानबीन हर स्तर से शुरू की गयी. तलाशियां शुरू हुई. अंत में फ्रेंच कमांडेंट अरविंद निवास पर भी आ धमका. वह बोला, 'तलाशी लेनी है?'

'ले लीजिए.'

फ्रेंच कमांडेंट ने चारों ओर निगाहें घुमायीं. सामान्य-सा कमरा. तरतीबवार सभी चीज़ें रखी हुई थीं. सजावट कुछ नहीं. ट्रंक को देखा गया. उसमें से पुस्तकें निकलीं. दराज़ से भी पुस्तकें निकलीं. पुस्तकें भी ग्रीक, लैटिन और फ्रेंच भाषा में. कुछ हस्तलिखित कागज़ थे. लेख इतना सुंदर और स्पष्ट कि इससे पहले उसने कभी नहीं देखा था– मोती जैसे अक्षर.

उनमें झलकती किसी शिशु की चमकीली आंखें. उनमें कुछ पृष्ठ लैटिन और ग्रीक भाषा में लिखे हुए थे.

'आप ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, अंग्रेज़ी आदि भाषाएं जानते हैं? खूब पुस्तकें हैं.'

'जी, मुझे पढ़ना पसंद है.'

'और लिखना भी.'

'कोशिश कर लेता हूं पर अधिक समय उस लिखने के सोचने पर निकल जाता है कि क्या वह लिखना ज़रूरी है! नहीं लिखा जाए तो क्या मानवता एक उपकार से वंचित रह जाएगी.'

'बहुत सुंदर, मि. अरविंदो. चलो बहाना कोई-सा भी हो लेकिन मुझे आपसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई. आप अन्यथा न लें तो मैं आपको एक कष्ट देना चाहूंगा.'

'फिर मनुष्य का चोला है किसलिए. आप कहिए.'

'यह डिब्बा क्या कहता है?'

'यह उस व्यक्ति का काम नहीं है जिसने इस डिब्बे के बारे में सूचना दी है. क्या वह जानता था कि डिब्बे में क्या है! जानता होता तो वह पुलिस को खबर क्यों देता? उसे क्या आने वाले संकट का आभास न होता.'

'तो फिर?'

'क्या आपको नहीं लगता कि इसके प्लानर कोई और हैं और शायद वे जो यहां रह रहे उन शांतप्रिय भारतीयों को यहां से खदेड़वाना चाहते हैं जो ब्रिटिश भारत में ज़्यादतियों के शिकार होने से बचकर यहां आये हैं. मुझे यह ब्रिटिश सरकार का रचा षड्यंत्र लगता है. आप समझ सकते हैं कि उनका दबाव बराबर आपकी सरकार पर बना हुआ है.'

धन्यवाद, मि. अरविंदो. क्या आज शाम की चाय आप मेरे साथ लेना पसंद करेंगे?

'मैं शाम को चाय नहीं लेता.'

'आपसे कुछ चर्चा हो सके तो.'

'मुझे कोई आपत्ति नहीं है, कमांडेंट साहब. वैसे मेरे पास कुछ नहीं है. चूंकि फ्रेंच सरकार की सहानुभूति, सौहार्द और संरक्षण देने की भावना हम लोगों के साथ है, इसलिए मुझे आपका दावतनामा कबूल है.'

'यों कुछ साहित्यिक चर्चाएं हो सकेंगी. दरअसल मैं साहित्य का विद्यार्थी रहा हूं और नौकरी गैर-साहित्यिक कर रहा हूं.'

'पर हमें समय का पाबंद रहना होगा.'

'गाड़ी ठीक साढ़े पांच बजे आपके निवास पर होगी और आप साढ़े छः बजे अपने निवास पर लौट आयेंगे.'

'तब ठीक है.' कमांडेंट की ओर अरविंद ने सहज दृष्टि डाली. कमांडेंट उल्टे पांव लौटा और उनका हाथ अपने सिर पर रखकर बोला, 'आशीर्वाद दीजिए' मणि चक्रवर्ती इतना कहकर कुछ रुक गया. होंठों पर जीभ फेरकर बोला, 'कमांडेंट ने मयूरसेन को पकड़वा लिया. उसने सच

उगल दिया. ब्रितानिया सरकार अपना-सा मुंह लेकर रह गयी– हाथ पर हाथ धरे. ऐसा होता है महान् व्यक्ति का जादुई प्रभाव.'

'मणि, मैंने भी उनके प्रभा-मंडल का जादू देखा था. यह तो तुम्हें ज्ञात ही है कि गुरुदेव और मैं फ्रेंच जहाज डूप्ले से 1 अप्रैल, 1910 की प्रात: को कलकत्ते बंदरगाह से पांडिचेरी के लिए रवाना हुए थे.'

'और नाग, आप लोग 4 अप्रैल 1910 को शाम के चार बजे पांडिचेरी पहुंचे थे, जहां मेरे साथ श्रीनिवासाचारी थे.'

'हमारे कलकत्ता बंदरगाह से जहाज में बैठने की कहानी बड़ी उलझन-भरी और रहस्यमयी है. मैं सुकुमार दा के निर्देशन से काम कर रहा था. उन्होंने मुझे दो ट्रंक थमाए और जहाज के केबिन में छोड़ आने को कहा. फिर वहां से मुझे शाम को एक नाव में गंगा नदी के उस पार से दो व्यक्तियों को लाना था. उन दोनों में से एक आरोदा (अरविंद) थे.'

उलझन यहां से पैदा हुई. नाव बीच रास्ते में खराब हो गयी. उसे सुधारने में समय लगा और हमें गंगा पार पहुंचने में काफी देर हो गयी. चारों ओर दृष्टि डाली, मणि. पर कहीं अपने आरो दादा नज़र नहीं आये. मैंने यह कहानी सुकुमार दा को सुना दी. वह बोले कि जहाज के केबिन से दोनों ट्रंक लेकर लौट आओ.

जहाज के केबिन से दोनों ट्रंक लिये. पता चला कि डॉक्टर जांच करके जा चुका है. जहाज के कैप्टन से डॉक्टर का पता लिया और जिस कुली की सहायता से दोनों ट्रंक उठवाकर गाड़ी में रखवाये थे. उसने स्वत: मेरी सहायता की और डॉक्टर तक ले जाने की पहल की. उसने बताया कि डॉक्टर का नौकर उसका परिचित है और डॉक्टर नेक इंसान है.

उधर आरो दा घूम-फिरकर पुन: चांदपाल घाट पहुंचे. मैं भी वहीं जा पहुंचा. उधर कुली भागा हुआ आया और बोला, 'जल्दी चलो वरना डॉक्टर सोने चला जाएगा.'

क्या भागमभाग हुई! दिमाग में वह हड़कम्प मचा कि सारी अकल गुम हो गयी. गाड़ीवान ने गाड़ी को तेज़ हांका. मैं आरो दा के साथ पीछे की सीट पर बैठा था.

डॉक्टर के घर आ गये. हमें आधे घंटे तक डॉक्टर की बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी.

वह कुली इस समय ज़रूरत से ज़्यादा वाचाल और सक्रिय हो गया था. आरो दा शांतचित्त बैठे हुए थे. कुली समझा कि ये घबरा रहे हैं. उसने मुझसे पूछा कि क्या ये कभी किसी साहब से नहीं मिले हैं.'

मैं उसे क्या जवाब देता. वह कह रहा था, 'आपके मालिक घबरा रहे हैं. उन्हें समझाओं कि डॉक्टर बहुत सज्जन हैं. घबराने की कोई बात नहीं हैं.'

'मैंने कह दिया, वे बीमारी से उठे हैं, घबराने की कोई बात नहीं है.'

'किस बीमारी से.'

'मलेरिया जैसी बीमारी से.'

'फिर भी आप उन्हें समझा आयें.'

मैं आरो दा को क्या समझाता फलतः मैं चुपचाप यथास्थान बैठा रहा. लेकिन उस कुली को चैन कहां! उसके दिमाग में बख्शीश का जादू सिर चढ़कर बोल रहा था. वह आरो दा के पास पहुंचा और उनसे कहा, 'मालिक घबराइए बिल्कुल नहीं. डॉक्टर साहब स्वभाव से भद्र पुरुष हैं.'

इस पर हम सबको हंसी आ गयी. आरो दा भी हंसे बिना नहीं रह सके. कुली आरो दा से गर्मजोशी से हाथ मिला रहा था. मैं उसकी खुशी को देखकर हैरान रह गया. गरीब की खुशी कितनी सस्ती और आसान है!

आरो दा के साथ मैं भी डॉक्टर के कक्ष में पहुंचा. डॉक्टर ने कुछ प्रश्न किये. जांच की. आरो दा ही बोले, मैं तो शांत रहा. मैं उस समय चकित रह गया. जब डॉक्टर ने प्रमाण-पत्र देते हुए कहा, 'आपका अंग्रेज़ी ज्ञान जितना गहन है उतना ही आपका उच्चारण और बोलने का ढंग. इस आधार पर मैं कह सकता हूं कि आपकी शिक्षा इंग्लैंड में होनी चाहिए. इंग्लैंड से तो बहुत से भारतीय पढ़कर आये हैं, पर उनमें वह बात कहां है जो आपमें है. आप अंग्रेज़ों से अच्छी अंग्रेज़ी बोलते हैं– शब्द चयन के आप जादूगर हैं.'

आरो दा ने संकोचवश केवल इतना ही कहा, 'मैं आपका शुक्रिया कैसे अदा करूं डॉक्टर. मैं आपके नज़रिए की कद्र करता हूं. आभार.'

'सच, मणि वह जादू उनके अंग्रेज़ी बोलने, उसके उच्चारण और सटीक शब्द चयन का ही था कि डॉक्टर ने कोई खास जांच-परख नहीं की और प्रमाण-पत्र हमारे हवाले करने बाद हमें छोड़ने वह बाहर तक आया.'

मुझे मणि, यही सोचकर आश्चर्य होता है कि इतने महान्, दिव्य और मनीषी व्यक्ति के साथ यह क्या हो रहा है? वे पैसे-पैसे के लिए परेशान हैं.'

'नहीं, विजय नाग, वह कतई परेशान नहीं हैं. न उन्हें किसी से कोई शिकायत है. वे पूर्णतया ईश्वर अधीन हैं. एकदम शांत हैं. धैर्यवान् हैं. तुम्हें याद है, जब उस दोपहर सुब्रह्मण्यम् भारती आये थे तब अरविंद ने कहा था, 'भारतीजी, अवश्य कोई अनुकूल खबर नहीं है. पहले रुमाल से

वह जादू उनके अंग्रेज़ी बोलने, उसके उच्चारण और सटीक शब्द चयन का ही था कि डॉक्टर ने कोई खास जांच-परख नहीं की और प्रमाण-पत्र हमारे हवाले करने बाद हमें छोड़ने वह बाहर तक आया.

पसीना पोंछो. जो होना है, उसे हमारी उत्तेजना, हड़बड़ाहट और जल्दबाजी रोक नहीं सकेगी. पहले ईश्वर का ध्यान करो. सारी चिंताएं उसकी झोली में डाल दो.''

'यह बहुत नाजुक समय है. पता चला है आपको, मुझे और हम जैसे चार-पांच और व्यक्तियों को अल्जीरिया भेजा जा रहा है या...'

'या क्या भारतीजी?'

'ब्रिटिश सरकार को सौंपा जा रहा है.'

'तब?' अरविंद ने अत्यंत शांत भाव से और स्थिरचित्त होकर पूछा.

'क्या तब, कुछ नहीं है.'

'क्या है?'

'फ्रेंच सरकार ऐसा निर्णय कैसे ले सकती है?'

'यह मुझे नहीं मालूम. मैं इतना जानता हूं कि वह सरकार है, कुछ भी कर सकती है, भारतीजी.'

'और हम चुप बने रहेंगे.'

'मुझे नहीं मालूम, भारतीजी.'

'आप क्या करेंगे! आप ब्रिटिश भारत से बचकर यहां आये हैं? ब्रिटिश सरकार की आंखों के आप खतरनाक कांटे हैं. वह आपके साथ क्या सलूक करेगी, इसका अनुमान आप मेरे से बेहतर लगा सकते हैं.'

'आप ठीक फरमाते हैं, भारतीजी.'

'तो हमें मिलकर क्या कुछ नहीं करना चाहिए?' सुब्रह्मण्यम् भारती अरविंद के चित्त की शांति, सहजता और अनुद्विग्नता देखकर हैरान रह गये.

'मैं हम में से बाहर हूं.'

'क्या मतलब?'

'मुझे अपनी चिंता नहीं है, भारतीजी.'

'आखिर क्यों?'

'क्योंकि मैं यहां से अर्थात् पांडिचेरी की ज़मीन से एक इंच भी इधर से उधर नहीं होऊंगा, भारतीजी.'

'यह आप कैसे कह सकते हैं, मि. अरविंद?'

'अपने विश्वास से, अपने अंदर की आवाज़ से. जिसने मुझे यहां पहुंचने का आदेश दिया है, यह उत्तरदायित्व उसका है. जो करना-कराना है, वही करेगा.'

'इतना आत्मविश्वास ठीक नहीं है, मि. अरविंद.'

'पता नहीं, क्या ठीक है, क्या नहीं. मैं तो इतना जानता हूं कि मुझे पांडिचेरी में ही रहना है.'

'तब ठीक है. ...फिर भी, आपको लगे कि... हम सब मिलकर बहुत कुछ कर सकते हैं.'

'आपका बहुत-बहुत धन्यवाद, भारतीजी.'

सुब्रह्मण्यम् भारती फिर रुके नहीं और तेज़ी से बाहर निकल गये, विजय नाग. उसके बाद अरविंद ध्यान लगा बैठे. तुमने पूछा भी था कि आज के शाम के भोजन

का क्या रहेगा? ...उन्होंने कुछ कहा ही नहीं था. ...और हम लोगों ने उस रात भोजन नहीं किया था.'

'हां, मणि, उस दिन मैं बाहर था. देर से लौटा था, तब तुमने कुछ खास नहीं बताया था.' विजय नाग ने सोचते हुए कहा.

'क्या बताता, नाग. मैं स्वयं तो ठगा-सा रह गया था. और मैंने कई दिनों तक यह जानने की कोशिश की थी कि क्या आरो दा में तनिक-सा भी परिवर्तन आया. ये एकदम सहज और सामान्य बने रहे. अपने काम में लगे रहे.'

'तुमने यह सब मुझे क्यों नहीं बताया?' विजय नाग ने कशिश भरी आवाज़ में कहा.

'क्या बताता, नाग. यहां कितना टाइट कार्यक्रम है. पढ़ना-लिखना, ज्ञान-ध्यान, रसोई बनाना आदि क्या-क्या काम है. फिर समय ही कहां मिल पाता है. ...आज तो बात में से बात निकलती चली गयी और फिर आरो दा, ध्यान में हैं. ...खैर जो कुछ अपने लोग जान सके, वह क्या कम है? ...अभी हो सकता है कि उनके सम्बंध में ऐसी कितनी ही बातें हम लोगों के ज़ेहन में हों. ...इस सबको ध्यान में रखते हुए, तुम क्या सोचते हो कि अब हमें क्या करना चाहिए?' मणि चक्रवर्ती का चेहरा गम्भीर हो गया. उसके उदास होंठों पर रहस्यमयी मुस्कान तैर गयी.

'कुछ नहीं करना, सिर्फ पानी पीकर सो जाना है.' विजय नाग ने कहा.

'और आरो दा...' मणि चक्रवर्ती पूछता.

'पता नहीं, वे ध्यान से कब उठें? फिर वे तो अंतर्यामी हैं, सब जानते हैं. हमारी भी कोशिश यही हो कि हम उनका अनुसरण करें. उसी में अपने चित्त को लगाएं. यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें उनके साथ रहने का, उनकी सेवा करने का और उनसे कुछ सीखने का अवसर मिल रहा है.'

'हां, विजय नाग, हमारे लिए यही शुभ है.'

'शुभ-अशुभ को मार गोली और राम भक्त हनुमान का स्मरण कर.'

इस पर दोनों हंस पड़े. हंसी कमरे के दरवाज़े पर हल्की-सी दस्तक देकर लौट आयी. वे सहज हो उठे. उनको अब न भूख सता रही थी और न प्यास. सब गायब. वे दोनों एकदम तृप्त. उन्हें यह विचित्र अनुभव हो रहा था. उनके सामने भूरे रंग की ज्योतिर्गमय आंखों में कोमलता और अनुकम्पा का संगम हो रहा था. धीरे-धीरे वे आंखें श्यामवर्णीय दो कुंडों में बदलने लगीं. उनकी घनी पुतलियों में गहरी छाया थी. देखते-ही-देखते वे दोनों घने जंगल की तपती दोपहरी में पहुंच गये, मन डूबने लगा, दिशा का ज्ञान जाता रहा. अब धीरे-धीरे वह जंगल उपवन में बदलने लगा

और कुछ क्षण में वह उपवन हो गया. अब वे तालाब के किनारे पर थे. तालाब एकदम निर्मल, स्वच्छ और गहरा शांत आरो दा के लेख जैसा स्फटिक, चमकीला और स्पष्ट. उसमें से निकलती एक विशेष प्रकार की महकवाली दीप्ति चहुं ओर छाती जा रही थी. लगता वे आंखें स्वर्ग के दृश्य देख रही हैं. विराट् निर्वैयक्तिकता ब्रह्मन् का रसपान कर रही थी.

वे दोनों चौंके. वे सुन रहे थे. यह उन्होंने अरविंद से ही सुना था पर ऐसे जैसे अरविंद में कोई और बोल रहा हो, उनकी आवाज़ में कम्पन की गहरी द्युति थी. द्युति का कोई एक रंग नहीं था. वह आवाज़ मानो बहुत दूर से आ रही थी. कह रही थी– कर्म संन्यास को पूर्ण करो, विचार संन्यास को पूर्ण करो और भावना संन्यास को पूर्ण करो! ...अंत: प्रकाशित और अंत:प्रेरित विचार-रूप में उसे बहने दो-शांत, शीतल और सुंदर सरिता की तरह और परिमल गंध लिये, पवन की तरह मंद-मंद, मधुर-मधुर. उसे देखो. मिथ्या बाह्य रूपों के पर्दे उतरकर अदृश्य होते जा रहे हैं. तुम उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हो और इस भ्रमाभास के बाहर आ सकते हो कि, तुम देखते हो, तुम सुनते हो, तुम स्पर्श करते हो, तुम अनुभव करते हो, तुम सूंघते हो. कह दो कि वह तुम्हारे लिए मिथ्या है.'

'मणि-विजय, इधर आओ.'

न मणि आया, न विजय. अरविंद स्वयं उठे. बाहर आये दूसरे कमरे में. उन्होंने उन दोनों को ध्यान-मग्न पाया. पुन: धीरे-से पुकारा, 'मणि-विजय, आंखें खोलो.'

धीरे-धीरे उन दोनों ने आंखें खोल दीं. अरविंद को सामने खड़ा पाकर चौंक पड़े. उठने के लिए जैसे ही उद्यत हुए वैसे ही उन्होंने उन दोनों को रोक दिया और कहा, 'वत्स, बैठे रहो. तुम्हें मालूम है, तुम कब से बैठे हो?'

'नहीं, आरो दा, नहीं.' समवेत स्वर था.

'तुम दोनों इस मुद्रा में बैठे हुए अत्यंत शांत थे. मेरे मन में एक विचार आया. मेरी आंखें खुल गयी. मैंने तुम्हें पुकारा. तुम दोनों ने कोई उत्तर नहीं दिया. मैं चला आया. मेरी आंखें छलछला आयीं. मुझे याद आया कि आज दोपहर रसोई नहीं बनी थी. इसका मतलब हम लोगों ने आज दोपहर का भोजन नहीं किया.'

मणि-विजय शांत. क्या कहें?

अरविंद पूछ रहे थे, 'जीवन के लिए क्या भोजन अनिवार्य नहीं है?'

दोनों एकदम मौन.

'मैं जानता हूं कि तुम श्रद्धा से झुके हुए हो. बोल नहीं सकते. भूख की अदृश्य मार झेल सकते हो. मुझे भी भूखे रहने के लिए विवश कर सकते हो.'

'नहीं, आरो दा, नहीं.'

'तुम दोनों ने ऐसा ही किया है.'

'क्षमा, आरो दा, क्षमा. हमसे गलती हुई है.' दोनों एक साथ बोल पड़े.

'पर क्यों हुई? जवाब दो.'

वे दोनों क्या जवाब दें. जवाब सीधा-सा है– रसोई में कुछ नहीं था और जेब में एक दमड़ी नहीं थी. सामान आये तो कैसे?

'जानता हूं, तुम नहीं बोलोगे लेकिन तुम्हें बोलना चाहिए था क्योंकि एक दफे तुम लोक-लाज से भूखे रह सकते हो परंतु तुम्हारा यह आरो दा नहीं रह सकता. तुम दोनों को अब क्या सज़ा दी जाए?'

'जो आपके जी में आये, आरो दा.'

'मेरे जी की छोड़ो, अपने जी की बताओ, वत्स.'

'जो आप उचित समझें, आरो दा.'

'अच्छी तरह सोच लो.'

'इसमें हमें कुछ नहीं सोचना.'

'दंड कठोर हुआ तो.'

'होने दीजिए.'

'ठीक है तो आंखें बंद करो. एकदम आंखें बंद. चित्त एकदम शांत. कोई विचार नहीं. मात्र ध्यान. यहां कोई नहीं है. मैं भी नहीं. ये कमरा भी नहीं. उसकी भित्तियां भी नहीं. छत भी नहीं. द्वार-दरवाज़ा भी नहीं. वातायन भी नहीं. कोई रुकावट नहीं. पवन की तरह स्वच्छंद, महक की तरह निर्द्वंद्व, प्रकाश की तरह स्वतंत्र, निर्झर की तरह प्रसन्न. अब तुम भी नहीं हो. नहीं हां. ...कोई भी नहीं है. किसी के न होने की अनुभूति भी नहीं है. अब नहीं भी नहीं है और हां भी नहीं. मात्र वह है. चारों ओर केवल वही है. जो न गंध है, न स्पर्श. जो न स्वर है, न स्व ...जो न आकाश है, न धरती. पर एक वही है. ...एक वही.'

इसके बाद अरविंद मौन. कोई ध्वनि नहीं. मात्र धूप के एक नन्हे से शिशु की तरह आंख खोले मोमबत्ती वाला लैम्प. टिमटिमाती आंखों वाला लैम्प. लघु रश्मिवाला पुनीत प्रकाश का बहता हुआ पल. हल्का-सा थिरक उठा शांत लहर की कम्पन का एहसास.

पल गये. जाते रहे शरद् नद् के मौन प्रवाह से. क्वार से कातिक माह तक. अनबोले. अनाहट किये. किसी अदृश्य साधक की श्वास से.

'अब धीरे-धीरे आंखें खोलने का प्रयत्न करो. एकदम पूरी आंखें नहीं खोलनी हैं. मुंदी-मुंदी-सी आंखें खोलो. देखने की जल्दी नहीं. सहज संयम. मनोरम धैर्य. एकदम नवल कली की तरह बहुत धीरे-धीरे. ...अब देखो. अनुभव से देखो.' अरविंद की आवाज़ थम गयी. सन्नाटा सन्नाटे से होकर बहने लगा.

पहले मणि चौंका. फिर विजय. तदुपरांत दोनों. फिर कोई भी नहीं– सिर्फ चौंकने का एहसास!

'मेरे पास अठन्नी थी. कहां से आयी, मुझे पता नहीं पर आयी. मैं उठा. या यों कहना ठीक है, मुझे अठन्नी ने उठाया.

तुम दोनों को ध्यान में पाकर मैं रसोई में आया. सब डिब्बे खाली. फिर बाहर आया. विवेक घई का सेवक सामने आ खड़ा हुआ. पूछने लगा, 'दादा, कुछ चाहिए क्या? लाऊं क्या?''

'हां, लाओ– चावल, तरकारी, अरहर की दाल. जो सांभर में डाली जा सके जैसे आलू, घीया, बैंगन, टमाटर, रेशेदार तरकारी.'

'वो सारा सामान दे गया. मैंने पहले अरहर की दाल भिगो दी. तरकारी साफ़ की. छीली. काटी. फिर चावल बीने. भिगोये. कुछ देर बाद रसोई सुगंध देने लगी. आस्वाद में छोंक लगने लगा. दिमाग ने आंखें खोल दीं. दिल मुस्कराया. फिर क्या था कि मैं तुम्हारे पास आया. मुझमें ममता उतरकर समा गयी. हालांकि मुझे अपनी मां से मिली ममता की याद नहीं है. मैं तो पांचेक वर्ष की उम्र में घर से ऐसा अलग किया गया था कि इक्कीस वर्ष बाद घर लौटा. ममता का यह अभाव यदा-कदा सालने लगता है. मैं अपने में नहीं रहता. आज मुझे ममता ने घेर लिया था. चुपके से मेरे कानों में कहा था, 'तेरे वे दोनों वत्स भूखे सो जाएंगे. तुझे कुछ पता भी रहता है. वे तेरे पर निर्भर हैं. उठ व्यवस्था कर...' मुझे नहीं मालूम कि रुपए-पैसे कहां हैं. मुझे याद है, नाग तुम्हें भी ज्ञात है कि जब मैं कमरे में अकेले बैठा था, तब अमर दा, नागेन गुहा और तुम आये थे. तुम मेरे लिए बिछौना लगा रहे थे.'

'चांदपाल घाट की ओर ना.'

'हां.'

'तब रात के ग्यारह बज रहे थे. सुबह हमें डूप्ले जहाज से पांडिचेरी के लिए रवाना होना था.'

'हां तब, नाग तब... अमर दा ने नोटों की एक गड्डी मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा था कि यह गड्डी मिश्री बाबू ने भिजवाई है.'

'हां...हां... अमर दा ने नोटों की एक गड्डी दी थी.'

'शायद उसी में से बाकी रह गयी थी यह अनमोल अठन्नी. ममता ने इस अठन्नी का कोंपल मन में जगाया और अब हम एक पल सांभर-भात को ठंडा नहीं होने देंगे वरना मां का ज़्यादा लाड़-प्यार कभी-कभी बिगाड़ भी जाता है. संयम सार्थकता की कुंजी है.'

अरविंद की आंखें झर न पड़े इसलिए उन्होंने मुंह फेर लिया ताकि नाना और मणि उनकी ओर नहीं देख सके, वे अंदर-ही-अंदर बह पड़े. ममता और प्यार कितना आत्मिक होता है, कितना मार्मिक और कितना स्तवन कि फिर नि:शेष भी नहीं बचता. अब सब चुपचाप भोजन कर रहे थे, हर कौर प्यार स्नेह की ममता में भीगा– दिलो-दिमाग से गुजरता हुआ हृदय को छू रहा था. **(क्रमश:)**

कविता

साक्षी रहें बुद्ध

● मायामृग

बुद्ध नहीं खोज पाये दुख का अंत
अंत तक जाकर भी....
उत्तरापेक्षी समय चुनौती देता रहा रह-रह कर
मौन होकर शांत नहीं हुआ जा सकता
जान गये वह...

अंतराल किसी प्रश्न का उत्तर नहीं
एक छोटे दुख के सामने दूसरा बड़ा दुख रख देना
अपने सच को परखने का अंतिम उपाय है.

यह जानना शेष नहीं कि
विनाश के बाद टूटा क्या-क्या...
संभाल लेना काफी है
कि बचा क्या है अभी जो टूट सकता था
...पर नहीं टूटा...
जो नहीं टूटा वह अगले विनाश का भक्ष्य है
विनाश के बाद केवल पुनर्सृजन ही नहीं होता
नये विनाश की भूमिका भी रची जाती है

कह न सके बुद्ध कि बस... सब ठीक होगा
कहा कि बस कि इतना ही सच है.

बुद्ध की साक्षी में कहता रहा हूं तुमसे
कि हां सब ठीक हो जायेगा
सच का कंधा छीलते हुए निकलना चाहता हूं
पर हर बार पकड़ा जाता हूं झूठ बोलते हुए.

किताब

एक था चैप्लिन, एक था गांधी

एक था चार्ली चैप्लिन. दुनिया का एक अनोखा फिल्मकार जिसने मूक सिनेमा के काल में अपनी छोटी-छोटी फिल्मों से समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला था. एक था मोहनदास करमचंद गांधी. दुनिया का एक अनोखा मनुष्य जिसने सत्य और अहिंसा के हथियारों से भारत को आज़ादी दिलाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपनायी थी. गांधी के बारे में महान वैज्ञानिक आइंस्टीन ने कहा था, 'आने वाली पीढ़ियां विश्वास नहीं कर पायेंगी कि दुनिया में गांधी जैसा कोई चलता-फिरता मनुष्य था. गांधी की कर्मभूमि दक्षिण अफ्रीका से लेकर भारत तक फैली हुई थी.'

एक-दूसरे से सात समुद्र दूर रहने वाले इन दो विलक्षण व्यक्तित्वों में ऐसी क्या समानता थी कि दोनों के बारे में एकसाथ बात की जा सकती है अथवा की जानी चाहिए? इसी सवाल का जवाब है यह किताब, जिसका शीर्षक है– 'चैप्लिन का गांधी' वस्तुत: यह शीर्षक चैप्लिन और गांधी भी हो सकता था. शायद ज़्यादा उपयुक्त होता, क्योंकि इस लगभग तीन सौ पृष्ठों की किताब में लेखक 'हेमंत' ने अपने समय की इन दोनों हस्तियों को समझने-समझाने की कोशिश की है. इस बात को यूं भी कहा जा सकता है कि चैप्लिन की निगाह से गांधी को समझने की कोशिश करके लेखक ने आज की पीढ़ी को उस मुहावरे में गांधी और चैप्लिन से परिचित कराया है जो नयी पीढ़ी को आसानी से समझ में आ सकता है. यह वह पीढ़ी है जिसने गांधी के व्यक्तित्व और कृतित्व को हिंदी फिल्मों द्वारा प्रचलित किये गये शब्द 'गांधीगिरी' के माध्यम से समझा है. गांधीगिरी की तरह का एक शब्द है चैप्लिनगिरी, जो लेखक के अनुसार 'गम में हंसने-हंसाने या खुशी में रोने-रुलाने का माहौल सृजित करने की क्षमता' को व्यक्त करने के लिए काम में लिया जाता है. लेखक ने इसे सिर्फ कहानी नहीं, 'कहानी में कहानी' कहा है और सच भी है कि इसे पढ़ते हुए कभी हम गांधी की उंगली पकड़ कर चलने लगते हैं और कभी चार्ली चैप्लिन हमारा हाथ पकड़कर आगे ले जाता दिखता है.
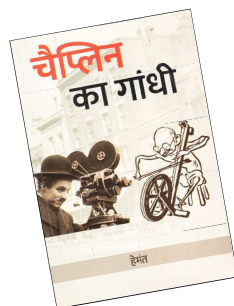
चार्ली चैप्लिन, गांधी से सम्भवत: एक ही बार मिले थे, जब गांधी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने 1931 में इंग्लैंड गये थे. तब, संयोग से चैप्लिन भी अपनी बहुचर्चित फिल्म 'द सिटी लाइट्स' को लांच करने के लिए वहीं थे. वे एक शानदार होटल में ठहरे थे और तब गांधी आग्रहपूर्वक लंदन में ईस्ट एंड की एक झोंपडपट्टी में एक सामान्य परिवार के मेहमान बने थे. ज्ञातव्य है कि इसी लंदन में चैप्लिन का बचपन नितांत गरीबी में गुज़रा था. क्या चैप्लिन की ज़िंदगी के उस अध्याय और गांधी के लंदन के एक निर्धन इलाके में रहने में कोई तार था जो इन दोनों को जोड़ता था?

एक और भी समानता थी दोनों में– हेमंत ने लिखा है– 'चैप्लिन के दिमाग में एक दृश्य आ रहा था– 'मिस्टर गांधी का भी मेरी ही तरह दुबला-पतला शरीर है. मेरे फिल्मी मसखरे की तरह ही महात्मा की वेशभूषा भी बेमेल है– बदन पर बेतरतीबी से लिपटी धोती, वह भी इंग्लैंड के ठंडे-भीगे मौसम में! मुझे फिल्मी ड्रेस में देखकर लोग हंसते हैं... यहां भी बेमेल वेशभूषा वाले गांधी को देखकर उनके स्वागत में लंदन के श्रमिक खुशी का इज़हार कर रहे हैं. नंगे फकीर जैसे गांधी उनको हंसाकर उनमें कुदरत से बेखौफ होने की ताकत पैदा कर रहे हैं– और पूछ रहे हैं हम क्यों किसी ज्ञात शक्ति की गुलामी मंजूर करें.'

लंदन के अखबारों में गांधी से जुड़े समाचारों को पढ़कर चैप्लिन चकित है. वह सोचता है, 'क्या सचमुच मसखरे और महात्मा में ज़्यादा फर्क नहीं होता? मासूमियत की हद तक फैली मूर्खता के मामले में भी और मूर्खता की हद में सिमटी मासूमियत के मामले में भी?' लंदन में गांधी ने कहा था, 'आप लोग मेरे काम को सफल बनाने में मेरी मदद करें, क्योंकि उससे सारी दुनिया की भलाई होगी.'

यह पढ़कर चैप्लिन को अपनी मां की याद आ गयी जो उसकी सफलता देखकर बोली भी, 'तुम्हें ड्रामा की नकली दुनिया में नहीं रहना चाहिए, तुमने यह प्रतिभा ईश्वर की दुनिया की सेवा में लगायी होती तो सोचो, कितनों की भलाई होती!'

चैप्लिन गांधी की बातों को अखबारों में पढ़ते और सोचते, गांधी कहीं उनकी फिल्म 'दि किड' के ट्रेम्प तो नहीं? और उन्हें लगा, गांधी से मिलना ही चाहिए. और एक दिन वे उस गली में पहुंच ही गये, जहां एक सामान्य से मकान में गांधी ठहरे थे. गांधी के मेज़बान ने चैप्लिन से पूछा था, 'पंद्रह मिनट पर्याप्त होंगे न, आपकी गांधी से बातचीत के लिए?'

और वह पंद्रह मिनट न जाने कितना लम्बा अर्सा बन गये. और कितना महत्वपूर्ण समय था वह दोनों के लिए. बातचीत की शुरूआत चैप्लिन ने छोटे-से सवाल से की थी, 'मिस्टर गांधी आप मशीनों के विरोध में क्यों हैं?' उत्तर में गांधी ने जो कुछ कहा वह

वही गांधीगिरी थी, जो सामने वाले को अनायास निरुत्तर भी कर देती है और अपना भी बना लेती है. गांधी चैप्लिन को यह समझाने में सफल हो गये थे कि भारत में सिर्फ आज़ादी की लड़ाई नहीं हो रही. एक पूरी विचारधारा पनप रही है. यह विचारधारा यह बताती है कि मशीनें श्रम को दोयम दर्जे का बना देती हैं. भारत का संघर्ष श्रम को उसपर काबिज शोषक-सत्ता से मुक्ति दिलाने का संघर्ष है. गांधी ने भारतीयों को श्रमिक को आज़ादी के संघर्ष में साझीदार, बना कर साझेदारी का एक मंत्र दिया था. चैप्लिन को गांधी का यह मंत्र समझ आ गया. गांधी समझ आ गया!

गांधी की अहिंसा की लड़ाई भी समझ में आ गयी, जिसे वे आत्मशुद्धि की प्रक्रिया भी मानते थे. चैप्लिन इस बात को सुनकर चकित थे कि दुनिया में कोई भी देश अपने ऐच्छिक या अनैच्छिक सहयोग के बिना गुलाम नहीं बनाया जा सकता. उस दिन जब चैप्लिन गांधी से मिलकर लौटे तो एक अलग तरह की दृष्टि उनके साथ थी. बरसों-बरसों यह दृष्टि उनके साथ रही. यह पुस्तक उस दृष्टि को पाठक के सामने लाने में सहायक बनने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है. गांधी का सत्याग्रह, गांधी की अहिंसा, गांधी का वैष्णव जन, गांधी का ईश्वर, यह पुस्तक सबके बारे में बात करती है. पुस्तक चैप्लिन के माध्यम से दुनिया के सामने उठ रहे सवालों के जवाब तलाशने की कोशिश करती है. धीरे-धीरे चैप्लिन को उस निर्णय तक ले जाती है, जो वे हिटलर के बारे में करते हैं. वे निर्णय करते हैं, कि अब वे क्रूरता का पर्याय बने हिटलर पर हंसेंगे. उन्होंने एक फिल्म की कहानी बुनी. फिल्म का नाम था 'दि ग्रेट डिक्टेटर'. यह फिल्म युद्ध के खिलाफ उस अभियान का हिस्सा बन गयी जो एक ओर गांधी हिटलर को पत्र लिखकर चला रहे थे और दूसरी ओर आइंस्टाइन जिसे मानव समाज के लिए अभिशाप और चेतावनी बता रहे थे. हेमंत ने अपनी इस पुस्तक में बहुत बारीकी और शिद्दत के साथ युद्ध की निरर्थकता को उजागर किया है. पुस्तक के आखिरी हिस्से में 'दि ग्रेट डिक्टेटर' का वह आखिरी दृश्य दिखाया गया है जिसमें ट्रैम्प कहता है, 'आइए दुनिया को आज़ाद कराने के लिए लड़ें, राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़ डालें, लालच को खत्म कर डालें, नफरत को दफन करें, और असहनशीलता को कुचल दें.' यही तो गांधी ने कहा था. यही चार्ली चैप्लिन ने चाहा.

सर्व सेवा संघ द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक कुछ बिखरी हुई लग सकती है, कुछ जटिल भी. पर चैप्लिन की फिल्मों की तरह ही एक संदेश देने में यह भी सफल रही है. लेखक शायद यही चाहता है कि गांधी और चैप्लिन के माध्यम से पाठक अपने समय की चुनौतियों को समझने के लिए स्वयं को तैयार करे. ❑

किताब से

मनुष्य की आत्मा को पंख मिल गये हैं

● हेमंत

आगले तीन-चार महीने में हिटलर ने यूरोप के कई देशों पर कब्जा कर लिया. पोलैंड, बेलजियम, हालैंड, डेनमार्क, नार्वे आदि देश उसके कब्जे में आ ही गये.फ्रांस ने हथियार डाल दिये. उधर जापान ने जर्मनी एवं इटली के साथ दोस्ती गांठ ली.

विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाने को लालायित प्रभुओं के बीच की प्रतिद्वंद्विता का यह नजारा चैप्लिन के सरोकार को झकझोरने लगा. वह अपनी स्क्रिप्ट के 'क्यू' और क्लाइमेक्स के लिए मित्रों और अखबारों के ज़रिये 'पराजित और पराधीन' देशों की गतिविधियों को भी देखने-गुनने लगा– अफ्रीका और अन्य गरीब देशों सहित भारत की गतिविधियों को निहारने लगा.

उसने देखा– विश्व में अपने साम्राज्य की सत्ता बरकरार रखने के लिए चिंतित इंग्लैंड प्रजातंत्र की दुहाई देता हुआ जर्मनी से भिड़ तो गया, लेकिन उसने अपने अधीनस्थ तमाम देशों को 'युद्धलिप्त राष्ट्र' घोषित कर दिया! भारत को भी.

भारत की आज़ादी के लिए संघर्षरत कांग्रेसी, समाजवादी, वामपंथी, दक्षिणपंथी - सब दलों के अधिसंख्य नेताओं को लगता था कि भारत को आज़ाद कराने का यह सबसे अच्छा मौका है. कुछ ने कहा– 'इंग्लैंड से कहा जाय कि वह भारत को आज़ाद कर दे, तो वह जर्मनी के खिलाफ ब्रिटेन की मदद करेगा– धन से

भी और जन से भी.' कुछ ने कहा– 'अच्छा मौका है. हमें दुश्मन के दुश्मन को अपना दोस्त बनाना चाहिए. जर्मनी से समझौता कर ब्रिटेन की सत्ता-सेना को परास्त किया जाय, तो भारत आज़ाद हो जाएगा.'

लेकिन गांधी हैं कि अपनी सोच और कार्रवाइयों से सबको परेशान किये हुए हैं. वे बड़े लाट साहब से मिले, इंग्लैंड और फ्रांस से हमदर्दी दिखाई लेकिन बोले– 'मैं तत्काल भारत की आज़ादी की चिंता नहीं कर रहा. वह तो आज़ाद होकर ही रहेगा, पर वह आज़ादी किस काम की होगी जबकि इंग्लैंड औरफ्रांस का सर्वनाश हो जाएगा या फिर वे विजेता के रूप में दीख पड़ें जर्मनी को अपमानित और नेस्तनाबूद करके?'

गांधी की बातों को अब तक सिर-माथे लेकर जनता में खुद को 'बड़े और महान नेता' के रूप में स्थापित करनेवाले कई दिग्गज बिफर उठे. उन्होंने कहा– 'अरे, ये गांधी कैसे बच्चों जैसी बात कर रहे हैं!' लेकिन उनकी नाराजगी का मज़ा लेते हुए गांधी ने आनन-फानन में घोषणा कर दी– 'हम देश की आज़ादी चाहते हैं, लेकिन विश्वयुद्ध और तबाही की कीमत पर नहीं.' तमाम पार्टियों के नेता गांधीजी पर हंसने लगे. उनकी हंसी, व्यंग्य के बम-पटाखों की तरह आवाज़ करने लगी.

ठीक उसी दौरान एक नयी और चौंकानेवाली खबर आयी कि हिटलर की सेना अब सोवियत रूस की ओर कूच कर गयी है. सो सोवियत रूस भी हिटलर के खिलाफ़ युद्ध में कूद पड़ा है. मित्रराष्ट्र फ्रांस और इंग्लैंड की लगभग पस्त फौजों के पीछे हटते कदम थम गये हैं और वे अब सोवियत सेना के साथ मिलकर इस पार या उस पार की अंतिम लड़ाई के लिए कूच कर गयी हैं.

फिर तो जल्द ही चैप्लिन को इंग्लैंड और फ्रांस तक से तार पर तार आने लगे– 'चार्ली जल्दी करो. करोड़ों लोग तुम्हारी फिल्म का इंतज़ार कर रहे हैं.'

लेकिन चैप्लिन का निरीह चार्ली (ट्रैम्प) युद्ध और हिंसा की अनिवार्यता को सिद्ध करने पर तुले सवालों से घिर गया! हालांकि ये आवाज़ की दुनिया के सवाल थे और ऐसे लोगों की ओर से बरस रहे थे, जो कल तक जुबान की गोली को बंदूक की गोली से ज़्यादा मारक बनाने के कायल थे, लेकिन अब कह रहे हैं– बंदूक की गोलियों की आवाज़ के बिना जुबान की बोली ज़िंदा नहीं रह सकती.

सो ट्रैम्प भागता हुआ गांधी के सामने जाकर खड़ा हो गया और वही सवाल उनसे करने लगा, जिनसे वह घिरा है, मर्माहत है–

'दुनिया में कुछ लालची लोग हैं, जो शरारत कर रहे हैं. उनके हाथ में शक्ति है. वे पागल भले ही हों, लेकिन दुनिया का नुकसान तो कर ही रहे हैं. इस हालत में हाथ पर हाथ रख बैठे रहने और उन्हें

शैतानी करते जाने को छोड़ देने से हमारा काम नहीं चल सकता. हमें अहिंसा के सिद्धांत की बलि चढ़ाकर भी उनके हाथ से शक्ति छीन लेनी चाहिए, ताकि वे आगे और नुकसान न कर पायें. आप इसके बारे में साफ़ क्यों नहीं कहते?'

'भाई, मैं पहले भी कहता रहा हूं, अभी भी कहता हूं, इतिहास हमें यह बताता है कि जिन लोगों ने, बेशक सदुद्देश्यों से प्रेरित होकर, शरीर-बल का प्रयोग करके इन लालची लोगों को अपदस्थ किया है, बाद में वे खुद ही उसी बुराई के शिकार हो गये हैं, जो उन विजित लोगों में थी. तो क्या ज़्यादा अच्छा यह नहीं होगा कि हम, जो मानव-स्वभाव के लिए सर्वथा अशोभनीय इस पाशविक संघर्ष से बेचैन हैं, इन लालची शोषकों तथा ऐसे ही दूसरे लोगों को अपने मन की करने दें, और इनके पशु-बल के मुकाबले आत्म-बल को खड़ा करने की सम्भावनाओं को ढूंढ़ने में लगें?'

'लेकिन, महात्मा जी, इतिहास की सच्चाई यह भी है कि औसत आदमी महात्मा नहीं होता. इतिहास इस तथ्य का अचूक साक्षी है. भारत में और अन्यत्र भी कुछ महात्मा हुए हैं. ये लोग अपवाद हैं और अपवाद तो नियम को ही सिद्ध करते हैं. आप इन अपवादों को आधार बनाकर काम करेंगे?'

'इसके लिए तो मेरे पास एक ही उत्तर है– 'यह अजीब बात है कि हम अपने आपको तरह-तरह के भ्रम में डालते हैं. हम सोचते हैं कि हम अपने नश्वर शरीर को दुर्भेद्य बना सकते हैं, और आत्मा की छिपी हुई शक्ति को जाग्रत कर पाना हम असम्भव मानते हैं. अगर मुझमें इनमें से कोई शक्ति हो भी, तो मैं यही दिखाने की कोशिश कर रहा हूं कि मैं भी दूसरों की ही तरह एक दुर्बल मर्त्य प्राणी हूं और मुझमें न पहले कभी कोई असाधारण शक्ति थी और न आज है. मैं अपने-आपको एक साधारण व्यक्ति मानता हूं, जिससे दूसरे मर्त्य-जनों की ही तरह गलतियां हो सकती हैं. लेकिन, साथ ही मैं यह स्वीकार करता हूं कि मुझमें इतनी विनय अवश्य है कि मैं अपनी गलतियां स्वीकार करके अपने कदम वापस ले सकता हूं. मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि ईश्वर और उसकी नेकी में मेरा अडिग विश्वास है और सत्य तथा अहिंसा के लिए मुझमें अक्षय उत्साह है. लेकिन, क्या ये तमाम चीज़ें हर मानव-प्राणी के अंदर छिपी हुई नहीं हैं?''

'तो इसका मायने यह है कि हिटलर को खुला छोड़ दिया जाए? उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया जाए?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं. मैं तो कह रहा हूं कि आप यह समझो कि हिटलरवाद, और ब्रिटिश साम्राज्यवाद में कोई अंतर नहीं. हिटलरवाद साम्राज्यवाद की अत्यंत परिष्कृत नकल है. साम्राज्यवाद यथासम्भव

मैं उदार अथवा किसी भी तरह की तानाशाही को मंजूर नहीं कर सकता. उसमें न तो धनिकों का लोप होगा और न गरीबों की हिफाजत. कुछ धनी लोग अवश्य मिट जायेंगे और कुछ गरीब सरकारी दान पर पलेंगे.

अधिक-से-अधिक तेज़ी से हिटलरवाद को पीछे छोड़ देने को प्रयत्नशील है. ...हममें ऐसा कोई नहीं है जिसकी नाजीवाद या फासिज्म के प्रति कोई सहानुभूति हो, लेकिन तब साम्राज्यवाद के प्रति भी किसी की कोई सहानुभूति नहीं है, यहां तक कि उन जवानों की भी नहीं जो पेट की खातिर सेना में भरती होते हैं.'

'आज हिटलरशाही का जो अर्थ सामने आया है, वह है नग्न और नृशंस पशुबल, जिसे विशुद्ध विज्ञान का रूप दे दिया गया है और जिसका प्रयोग भी वैज्ञानिक परिशुद्धता के साथ किया जा रहा है. उसका प्रभाव प्राय: दुर्निवार है. और, हिटलरशाही के मुकाबले हिटलरशाही को खड़ा करने से वह कभी हार नहीं सकती. वैसा करने से तो उलटे मौजूदा हिटलरशाही से बढ़ी-चढ़ी और असीम उग्रता वाली नयी हिटलरशाही का जन्म होगा.'

'हिटलर की हिटलरशाही के खिलाफ़ ब्रिटेन युद्ध में उतरा है और मित्र राष्ट्रों से मदद की अपील कर रहा है, इसे मुकाबले की हिटलरशाही कैसे कहा जा सकता है? आप इस तरह की तुलना के पहले क्रांतियों के इतिहास के कुछ अनिवार्य से परिणामों के प्रति गाफिल कैसे रह सकते हैं, जो आम-आदमी को प्रभावित करती हैं? यह तो आप भी मानेंगे कि जब धनवान कठोर और स्वार्थी हो जाते हैं और बुराई बेरोक-टोक जारी रहती है तो लाजिमी तौर पर अपनी तमाम भयंकरता के साथ सर्वसाधारण की क्रांति पैदा होती है. जब जीवन का अर्थ, जैसा कि आप कहते हैं, अक्सर छोटी-बड़ी बुराइयों के बीच चुनाव ही है, तब क्रांतियों के इतिहास से मिलने वाली शिक्षा के मद्देनजर क्या आप ऐसी उदार तानाशाही के उदय का स्वागत नहीं करेंगे जो हिटलर जैसे तानाशाहों को खत्म करे और कम-से-कम जबरदस्ती के साथ 'धनिकों का शोषण' करे, गरीबों के साथ इंसाफ करे और यों दोनों की सेवा करे?'

'नहीं, मैं उदार अथवा किसी भी तरह की तानाशाही को मंजूर नहीं कर सकता. उसमें न तो धनिकों का लोप होगा और न गरीबों की हिफाजत. कुछ धनी लोग अवश्य मिट जायेंगे और कुछ गरीब सरकारी दान पर पलेंगे. एक वर्ग के रूप में धनिकों का अस्तित्व कायम रहेगा और तानाशाही के 'उदार' विशेषण से विभूषित होने के बावजूद गरीबों का वर्ग भी बना रहेगा. असली इलाज अहिंसात्मक लोकतंत्र है, जिसे दूसरे शब्दों में सबका सच्चा शिक्षण कह सकते हैं,

जिसमें धनिकों को सेवा के और गरीबों को स्वावलम्बन के सिद्धांत की शिक्षा दी जानी चाहिए.'

'आप किसी नयी हिटलरशाही के जन्म के काल्पनिक डर या आशंका के मद्देनजर हथियार डालने और युद्ध बंद करने की अपील कर रहे हैं, जबकि ब्रिटेन द्वारा युद्ध से बचने के लिए हिटलर से तमाम तरह के समझौते करने के बावजूद हिटलर ने पूरी दुनिया को युद्ध में धकेल दिया?'

'नहीं. मैं लड़ाई बंद करने की अपील इसलिए नहीं कर रहा हूं कि आप थक जायेंगे या कि लड़ नहीं सकते. इसके बजाय यह अपील इसलिए कर रहा हूं कि युद्ध तत्वत: एक बुरी चीज़ है. आप नाजीवाद को मिटाना चाहते हैं. आप उसे जैसे-तैसे अपनाकार कभी नहीं मिटा सकते. आपके सैनिक उसी विनाश-कृत्य में लगे हुए हैं, जिसमें जर्मन लगे हुए हैं. फर्क सिर्फ इतना है कि आपके सिपाही शायद उतने पूर्ण नहीं हैं जितने जर्मन हैं. अगर बात ऐसी हो तो आपके सिपाही भी शीघ्र ही अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी पूर्णता तो प्राप्त कर ही लेंगे. अन्य किसी भी शर्त पर आप यह लड़ाई नहीं जीत सकते. दूसरे शब्दों में, आपको नाजियों से भी अधिक हृदयहीन बनना पड़ेगा. चाहे जितने भी न्यायसम्मत उद्देश्य के लिए हो, प्रतिक्षण चल रहे इस अंधाधुंध नरसंहार को उचित नहीं ठहराया जा सकता. मेरा निवेदन यह है कि जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आज की-सी नृशंसता की ज़रूरत पड़े, वह न्यायसम्मत कहा ही नहीं जा सकता.'

'लेकिन अब तक का इतिहास गवाह है कि अन्याय के खिलाफ शस्त्र उठाना अक्सर न्याय के रास्ते के निर्माण में सहायक हुआ है.'

'हां, लेकिन अगर हमें आगे बढ़ना है तो हमें इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं करनी चाहिए, बल्कि नये इतिहास का निर्माण करना चाहिए. हमें अपने पूर्वजों द्वारा छोड़ी गयी विरासत को और भी समृद्ध करना चाहिए. अगर हम भौतिक जगत में नये-नये आविष्कार और नयी-नयी खोजें कर सकते हैं तो क्या आध्यात्मिक जगत में अपनी असमर्थता की घोषणा करना ठीक है? क्या उक्त अपवादों की संख्या बढ़ाकर उन्हें आम बना देना असम्भव है? क्या यह ज़रूरी है कि इंसान बनने से पहले आदमी पशु बने ही और तब, यदि बन सके तो इंसान बने?'

'...मैं समझता हूं, हिटलर द्वारा जितना खून बहाया जा रहा है, उसके अनुपात में विश्व की नैतिक ऊंचाई में रंच-मात्र वृद्धि नहीं हुई है. ...इसके विपरीत, कल्पना कीजिए कि आज यूरोप की स्थिति क्या होती, यदि पोलैंडवासियों, नॉर्वेवासियों, फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों, सबने हिटलर से कहा होता– 'विनाश के लिए ये तमाम

वैज्ञानिक तैयारियां करने की तुम्हें कोई ज़रूरत नहीं है. हम तुम्हारी हिंसा का मुकाबला अहिंसा से करेंगे. इसलिए हमारी अहिंसक सेना को तुम टैंकों, युद्ध-पोतों और युद्धक विमानों के बिना भी नष्ट कर सकते हो.' इसके जवाब में कहा जा सकता है कि उस हालात में फर्क सिर्फ इतना होता कि जो चीज़ हिटलर ने रक्तरंजित युद्ध से प्राप्त की उसे वे बिना युद्ध के प्राप्त कर लेता. बात बिल्कुल ठीक है. किंतु तब यूरोप का इतिहास कुछ और ढंग से लिखा जाता. शायद (लेकिन शायद ही) अहिंसक प्रतिरोध के मुकाबले भी हिटलर उसी प्रकार सभी देशों पर कब्जा करता जिस प्रकार अकथ्य बर्बरता मचाते हुए कर रहा है. लेकिन तब, अहिंसक प्रतिरोध में मृत्यु के ग्रास केवल वही लोग बनते, जिन्होंने ज़रूरत पड़ने पर किसी को मारे बिना और किसी के प्रति अपने मन में दुर्भावना को स्थान दिये बिना, मृत्यु का वरण करने के लिए अपने को प्रशिक्षित किया होता. मैं यह कहने की धृष्टता करूंगा कि उस हालत में यूरोप ने अपनी नैतिक ऊंचाई की अच्छी-खासी अभिवृद्धि की होती. और, मैं मानता हूं कि अंतत: महत्व की चीज़ नैतिक मूल्य ही है. बाकी सब तो निरर्थक वस्तु है.'

'मौत से बचने के लिए मौत का वरण? इससे राष्ट्रों की नैतिक ऊंचाई बढ़ेगी?'

'हां, यह मत भूलो कि सभी लड़ाइयां काफी हद तक एक सरीखी ही होती हैं, वे चाहे पशुबल की हों या आत्मबल की. दोनों में कष्ट तो सहना ही होता है. यूरोप
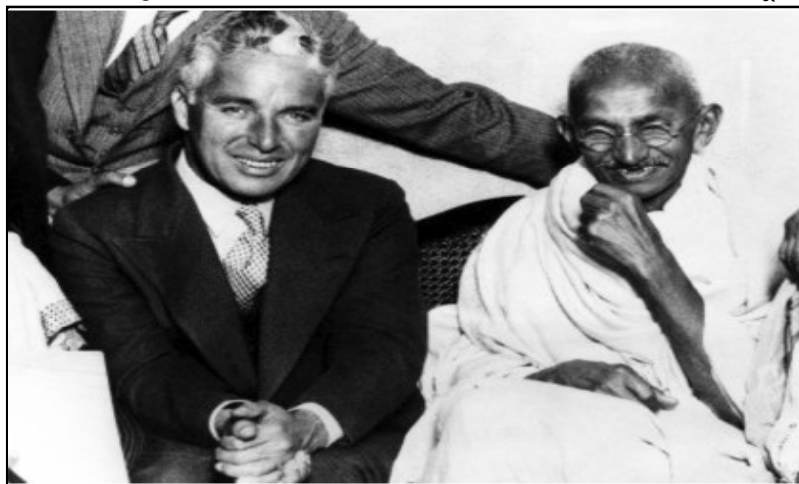
लंदन में चैप्लिन और गांधी

के पिछले महायुद्ध में दोनों पक्षों के लोगों की दुर्दशा हुई. दोनों पक्षों के सिपाहियों ने अपनी जान गंवाई. जर्मनी के असंख्य आदमी बेघरबार हो गये. किंतु अहिंसक सत्याग्रह और पशुबल का साम्य यहीं खत्म हो जाता है. सत्याग्रही आप ही नष्ट होता है. वह विरोधी का सर्वनाश करने के क्षणिक आनंद का जानबूझकर त्याग करता है और अपने त्याग में ही रस लूटता है.'

'लेकिन, ऐसा अभी सम्भव कैसे है, जबकि युद्ध शुरू हो चुका है?'

'दक्षिण अफ्रीका में जब सत्याग्रह का प्रारम्भिक दौर चल रहा था, उन दिनों जोहानिसबर्ग के अखबार 'स्टार' ने सर्वथा नि:शस्त्र और चाहने के बावजूद संगठित हिंसा का सहारा लेने में असमर्थ मुट्ठी-भर भारतीयों को प्रचुर शस्त्रास्त्रों से सज्जित सरकार के मुकाबले खड़े देखकर एक व्यंग्य चित्र प्रकाशित किया था. उसमें सरकार को दुर्निवार शक्ति के प्रतीक 'स्टीम रॉलर' के रूप में और भारतीयों के 'अनाक्रामक प्रतिरोध' को ऐसे हाथी के रूप में चित्रित किया गया, जो अपनी जगह बड़े आराम से अविचिलित बैठा हुआ था. उस हाथी को अचल शक्ति बताया गया. व्यंग्य-चित्रकार ने अपने व्यंग्य-चित्र में दुर्निवार और अचल शक्तियों के उस द्वंद्व-युद्ध के मर्म को पहचानने की कोशिश की थी. पश्चिम ने उसे 'अनाक्रामक प्रतिरोध' कहा था. लेकिन मैंने उसे नया नाम दिया– 'सत्याग्रह'. क्योंकि उस प्रतिकार में अपना हाथ उठाये बिना कष्ट-सहन की अचल शक्ति ने सफल प्रतिरोध किया था. जो बात दक्षिण अफ्रीका में सच सिद्ध हुई, वह आज भी उतनी ही सच साबित हो सकती है.'

'असली बात यह भी है कि हिटलर विजय लेकर करेगा क्या? क्या वह इतनी शक्ति को हजम कर सकेगा? वह खुद उसी तरह खाली हाथ जायेगा जैसे कुछ सदियों पहले सिकंदर गया था. जर्मनों के लिए वह एक विशाल साम्राज्य का स्वामी होने का सुख नहीं, बल्कि उनके सिर उसे संभालने का कमरतोड़ बोझ छोड़ जाएगा. कारण, विजित राष्ट्रों को वह सदा अपने अधीन नहीं रख पायेगा. और, मुझे तो नहीं लगता कि जर्मनों की भावी पीढ़ियां उन कृतित्वों पर विशुद्ध गर्व का अनुभव करेंगी जिनके लिए हिटलरशाही को ज़िम्मेदार ठहराया जायेगा.'

लास्ट सीन : एवरलास्टिंग

अंतिम सीन की शूटिंग हुई– हिटलर से मिलते-जुलते शक्ल के मसखरे के भाषण की! लम्बी फिल्म के अंत में भाषण भी लम्बा.

'मुझे माफ कीजिए, मैं शासक नहीं बनना चाहता. यह मेरा काम नहीं है. किसी पर भी राज करना या किसी को जीतना नहीं चाहता. मैं तो हर किसी की मदद करना चाहता हूं– हर सम्भव मदद. यहूदियों

की, गैरयहूदियों की, काले लोगों की, गोरे लोगों की, सबकी.'

'हम सब एक दूसरे की मदद करना चाहते हैं. मानव होता ही ऐसा है. हम एक दूसरे की खुशियों के साथ जीना चाहते हैं, एक-दूसरे की तकलीफों के साथ नहीं. हम एक दूसरे से नफरत और घृणा नहीं करना चाहते. इस प्यारी धरती पर सभी के लिए स्थान है. हमारी यह समृद्ध धरती सभी के लिए अन्न-जल जुटा सकती है. जीवन का रास्ता मुक्त और सुंदर हो सकता है, लेकिन हम रास्ता भटक गये हैं. लालच ने आदमी की आत्मा को विषाक्त कर दिया है, दुनिया में नफरत की दीवारें खड़ी कर दी हैं. लालच ने हमें जहालत में, खून-खराबे के फंदे में फंसा दिया है.'

'हमने गति का विकास कर लिया, लेकिन अपने आपको गति में ही बंद कर दिया है. इफरात पैदा करनेवाली मशीनों ने हमें अनंत इच्छाओं के समुंदर में तिरा दिया है. हमारे ज्ञान ने हमें सनकी, आत्महंता बना दिया है; हमारी चतुराई ने हमें कठोर और बेरहम बना दिया है. हम सोचते बहुत ज़्यादा हैं और महसूस बहुत कम करते हैं. मशीनों से ज़्यादा हमें ज़रूरत है इंसानियत की. चतुराई से ज़्यादा हमें ज़रूरत है दया और सज्जनता की. इन गुणों के बिना, जीवन हिंसक हो जायेगा और सब कुछ खो जायेगा.'

'हवाई जहाज और रेडियो ने हमें और करीब ला दिया है. इन चीज़ों का मूल स्वभाव मनुष्य में अच्छाई लाने के लिए चीख रहा है– सार्वभौमिक बंधुत्व के लिए चीख– हम सबकी एकता के लिए. यहां तक कि इस वक्त मेरी आवाज़ दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों तक पहुंच रही है– लाखों-करोड़ों हताश पुरुषों, स्त्रियों और छोटे-छोटे बच्चों तक... एक ऐसी व्यवस्था के शिकार लोगों तक जो आदमी को क्रूर और अत्याचारी बना देती है और निर्दोष इंसानों को सींखचों के पीछे डाल देती है, जो लोग मुझे सुन रहे हैं– मैं उनसे कहता हूं– निराश न हों. पीड़ा का यह दौर जो गुजर रहा है, लोभ की यात्रा है– उस आदमी की कड़वाहट है जो मानवीय उन्नति से घबराता है. इनसान की नफरत हमेशा नहीं रहेगी, तानाशाह मौत के हवाले होंगे और जो ताकत उन्होंने जनता से हथियाई है, जनता के पास वापिस पहुंच जाएगी और जब तक इंसान मरते रहेंगे, स्वतंत्रता कभी खत्म नहीं होगी.'

'सैनिको, अपने आपको उन धोखेबाजों

मेरी आवाज़ दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों तक पहुंच रही है– लाखों-करोड़ों हताश पुरुषों, स्त्रियों और छोटे-छोटे बच्चों तक... एक ऐसी व्यवस्था के शिकार लोगों तक जो आदमी को क्रूर और अत्याचारी बना देती है.

के हवाले मत करो जो तुम्हारा अपमान करते हैं– जो तुम्हें गुलाम बनाते हैं– जो तुम्हारी ज़िंदगी को संचालित करते हैं– तुम्हें बताते हैं कि क्या करना है, क्या सोचना है और क्या महसूस करना है. जो तुमसे कवायद करवाते हैं, तुम्हें खिलाते हैं– जानवरों-सा व्यवहार करते हैं और अपनी तोपों का चारा बनाते हैं. खुद को उन अप्राकृतिक लोगों के हवाले मत करो– मशीनी दिमाग और मशीनी दिल वाले मशीनी आदमियों के. तुम लोग इंसान हो, तुम्हारे दिलों में इंसानियत है, घृणा मत करो, करनी है तो बिना प्रेमवाली नफरत से करो!'

'सैनिको, गुलामी के लिए मत लड़ो. आज़ादी के लिए लड़ो. ...ईश्वर का राज्य आदमी के भीतर होता है– किसी एक आदमी या किसी एक समुदाय के आदमी के भीतर नहीं, बल्कि हर इंसान के भीतर.'

'आप सब लोगों– जनता– के पास ताकत है. मशीनें बनाने की ताकत. इस ज़िंदगी को आज़ाद और खूबसूरत बनाने की ताकत. खुशियां पैदा करने की ताकत. इस दुनिया को अद्‍भुत साहस में तब्दील करने की ताकत. लोकतंत्र के नाम पर आइए, हम उस ताकत का इस्तेमाल करें– आइए हम सब एक हो जायें. आइए, हम सब एक नयी दुनिया के लिए संघर्ष करें. एक ऐसी सभ्य दुनिया, जो हर आदमी को काम करने का मौका दे, युवा वर्ग को भविष्य और बुजुर्गों को सुरक्षा दे.'

'तानाशाह अपने आपको आज़ाद कर लेते हैं लेकिन लोगों को गुलाम बना देते हैं. आइए, दुनिया को आज़ाद कराने के लिए लड़ें– राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़ डालें– लालच को खत्म कर डालें, नफरत को दफन करें और असहनशक्ति को कुचल दें. आइए, हम तर्क की दुनिया के लिए संघर्ष करें. एक ऐसी दुनिया के लिए जहां पर विज्ञान और प्रगति सबको खुशियों की तरफ ले जायेगी, लोकतंत्र के नाम पर आइए, हम एकजुट हो जायें.'

दुनिया भर के हान्नाहों ने देखा-सुना

फिल्म बन गयी. फिल्म निर्माण के दौरान सनक भरे पत्र मिल ही रहे थे, फिल्म पूरी होते-होते ऐसे पत्रों की संख्या बढ़ने लगी. कुछ पत्रों में धमकियां दी गयीं कि वे लोग थियेटर पर बदबूदार बम फेंकेंगे, जबकि कुछ और धमकियां थीं कि जहां कहीं फिल्म दिखायी जा रही होगी, परदे फाड़ दिये जायेंगे. कुछ अन्य पत्रों में दंगा फसाद करने की बात कही गयी.

पहले तो चैप्लिन ने सोचा कि पुलिस को बताया जाये, लेकिन फिर सोचा कि इस तरह का प्रचार शायद दर्शकों को थियेटरों से दूर ही रखे. तब एक दोस्त ने सुझाव दिया कि जहाजी मज़दूरों की यूनियन के प्रमुख हैरी ब्रिजेस से बात करना ठीक रहेगा. इसलिए चैप्लिन ने उन्हें घर पर खाने के लिए बुलाया.

चैप्लिन ने उन्हें बुलाये जाने के कारण के बारे में साफ-साफ बता दिया. वह जानता था कि ब्रिजेस नाज़ी विरोधी हैं, इसलिए उसने उन्हें समझाया कि 'मैं नाज़ी विरोधी फिल्म बना रहा हूं और मुझे धमकी भरे खत मिल रहे हैं. अगर आप कहें तो मैं पहले शो में आपके बीस या तीस मज़दूरों को आमंत्रित कर सकता हूं, जो दर्शकों में घुल-मिल कर बैठ जायेंगे और अगर ये नाज़ी समर्थक कोई हंगामा शुरू करते हैं तो आपके आदमी कुछ भी गम्भीर बात होने से पहले उनकी ऐसी-तैसी कर सकते हैं.'

ब्रिजेस हंसे– 'मुझे नहीं लगता कि हालत यहां तक पहुंचेगी, मि. चार्ली. ऐसे खुराफातियों का मुकाबला करने के लिए आपकी अपनी ही जनता में काफी रक्षक होंगे. और अगर ये पत्र नाज़ी समर्थकों की तरफ से हैं, तो वैसे भी वे दिन दहाड़े वहां आने की हिम्मत नहीं जुटा पायेंगे.'

हैरी ने साथ भोजन करते वक्त सैनफ्रांसिस्कों की हड़ताल के बारे में एक बहुत ही रोचक बात बतायी. उस वक्त पूरा का पूरा शहर ही उनके नियंत्रण में था. शहर की पूरी आपूर्ति उनके हाथ में थी. लेकिन उन्होंने अस्पतालों और बच्चों के लिए आवश्यक आपूर्ति में कोई बाधा नहीं डाली. उन्होंने कहा– 'जब कारण न्यायोचित हो तो आपको जनता को प्रेरित करने की ज़रूरत नहीं होती; आपको सिर्फ यही करना होता है कि उन्हें तथ्य बता दें. बाकी बातें वे अपने आप तय कर लेंगे...'

अंतत: प्रदर्शन की तैयारी की करीब 5-6 महीने लम्बी प्रक्रिया के बाद फिल्म रिलीज हुई. और, 13 महीने से जारी भीषण युद्ध के बीच ही पूरी दुनिया में धूम मचा गयी. फिल्म में मसखरे हिटलर के शब्दों का 'गांधियाना अर्थ' दुनिया में गूंजने लगा– 'हान्नाह (न्यूयार्क से जर्मन अखबार 'आफबाऊ' में लिखनेवाली यहूदी पत्रकार-लेखक), क्या तुम मुझे सुन सकती हो? जहां कहीं भी हो, देखो यहां! बादल छंट रहे हैं. पौ फट रही है. हम अंधेरे से निकल कर उजाले में आ रहे हैं. हम एक नयी दुनिया में आ रहे हैं– एक ज़्यादा रहमदिल दुनिया में, जहां आदमी अपने लालच, घृणा और नृशंसता से ऊपर उठेगा. ...मनुष्य की आत्मा को पंख मिल गये हैं और अंतत: उसने उड़ने की शुरुआत कर दी है. वह इंद्रधनुष में उड़ रहा है– उम्मीदों की रोशनी में! देखो!'

इंग्लैंड, अमेरिका सहित विश्व के कई देशों में बसे प्रवासी भारतीयों ने भारत (तब पाकिस्तान नहीं बना था) में अपने परिवार और दोस्तों को खबर भेजी– 'चैप्लिन का 'द ग्रेट डिक्टेटर' ज़रूर देखना. उसमें मसखरा चार्ली बिल्कुल गांधी की बोली बोलता है– कई डायलॉग तो 'वर्बेटम' गांधी के कहे हुए से लगते हैं!'

❑

शब्द-सम्पदा

'आना जी बादल ज़रूर'

● विद्यानिवास मिश्र

हिंदुस्तान में बादलों का कुनबा विस्तृत और रंगीन है. यहां उठता हुआ बादल **धुरवा** है, काले **धुरवों** के बीच में छोटा-सा सफ़ेद बादल का टुकड़ा **थिगली** है, सफ़ेद **धुरवा रूगालौ** है, छोटा-सा खंड **बंदली** या **बदरिया** (**बद्‌दलिका, वाततूलिका**) है. क्या क्या रंग हैं, **कजरारे, काले, धुधुआरे, धुंईले, लाल, पीले, सिंदूरी, रतनारे, गेरुई, भूरे (कपिश), धूपछांही** (आधे सेत आधे काले), **उजले (बासे, रीते), धौर**, (सेत, बरसाने वाले) **भदकैले** (कुछ धौरे, कुछ काले), **तीतरपंखी** या **तीतरबन्ने** (बहुत काले नहीं, निश्चित रूप से बरसने वाले), **सतरंगी (इंद्रधनुषी)** और **खीलिया (तरइयां**, तारों के बीच छिटके हुए खंड). कालिदास ने **धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः** (धुआं, रोशनी, पानी और हवा की पिंडीभूत राशि) कहा है, पर क्या अद्‌भुत चैतन्य इनमें है, ये छन में उठते हैं, **जम** कर **जमन** या **घटा** (**कादम्बिनी**) या **जमैले** बन जाते हैं, फिर नीचे **लरज** कर या **उने** कर **उनइयां** बन जाते हैं, ये ही **वर्षोन्मुख** होते ही **बरसौंले** और बरसकर (**निर्वृष्ट** होकर) **छितरा** जाते हैं, तब कभी यकायक **कटते** हैं, फिर **जुड़ते** हैं, फिर **छिटक** जाते हैं, कभी **लुकते-छिपते** भागते हैं. कभी **बदरचल** करते हुए क्षितिज के पार चले जाते हैं. कैसे-कैसे इनके निर्घोष हैं, पुरुष-गम्भीर स्वर के ये ही प्रतिमान हैं, मंद-मंद **गुड़गुड़ाहट** से **गड़गड़ाहट (रसित)** में **गरज** तक आवाज़ की बुलंदी जाती है. यह **गर्जन** कभी **तड़तड़ाहट (स्तनित)** में परिणत होता है, कभी **तड़प** में और तब नियत रूप से बाद में बिजली **कौंधती** है. ये ही बादल **डरावने** हो जाते हैं, कुछ बादल केवल **गरजते** हैं, पर **बरसते** नहीं, क्योंकि उनमें सार कुछ नहीं होता, केवल एक रीतेपन की दूसरे रीतेपन से **टक्कर** भर होती है.

दिशा के आधार पर बादलों के कुछ नाम हैं. पुरवैया चल रही हो और पश्चिम से बादल उठे, तो उसे **उलटा धरवा** या **धुरवा** कहते हैं और पूरब से हवा के रुख के साथ उठे, तो उसे **सीधा धरवा** या **धुरवा** कहते हैं. पछुआ के अनुकूल बादल **पछायें** या **पछुवा** कहे जाते हैं. वर्षा के तो अनगिनत रूप हैं. **झीनी-झीनी बूंदें** पड़ती हैं, जो दिखाई भी नहीं पड़ती, उसे **फुही** या **फुहार** कहते हैं. फुही से तेज़ होती है बूंदों की **किनक, किनक** से कुछ तेज़ **बूंदा-बांदी** जब छोटी-छोटी बूंदें लगातार कुछ देर तक गिरती रहें, तब **रिमझिम, मेहासिन** या **झिनमिन** वर्षा होती है, ये ही

नन्हीं बूंदें हवा के साथ लहराती हुई पड़ती हैं, तो वर्षा **लहरुआ** कही जाती है. भारी बूंदों का पड़ना **बौझारा** और तेज़ हवा के साथ **बौछार** पड़े, तो **झपटी** या **झनकार** और घोर वृष्टि **मूसलाधार** वर्षा कही जाती है. इस **मूसलाधार, मूसकधार** वर्षा को संस्कृत में **धारासार** कहते हैं. जब दो-तीन दिन तक लगातार वर्षा होती रहे तो उसे **झड़ी लगना** कहते हैं. सावन-भादों की झड़ी मशहूर है. जब मेह बरस कर यकायक बंद हो जाए, तो उसे **झला** या **झलकरा** कहते हैं. यदि वे छाए रहें, पर बरसें न, तो उस वातावरण को **उनमनापन** या **घुमड़न** या **घुटन** कहते हैं, बादल बरसते रहें और धूप निकल आये, तो उसे **कोढ़िया मेह** या **सियारबियाही मेह** कहते हैं.

मात्रा-परिणाम के आधार पर भी वर्षा के नाम प्रचलित हैं. **पनियांढार** (जब पनाले बह चलें), **रेलापेल, गहगड्डा** या **घहघड्ड** (जब बड़े जोर की वर्षा हो, बीच में मैदान में पानी उतरा जाएं, **बिचकिल्ले** भर जाएं), **जगमन्न** (जब आस-पास कई कोस तक खेत भर जाएं), **मेंडतोड़** (मेंड़ तोड़कर पानी बह निकले, **तालतोड़** (ताल के किनारे **उपट** जाएं), **कूंड़भराऊ** (जब गड्ढे भर जाएं), **ओरीचुआन** (जब छत से ओरी चूने लगे), **धूरिबझाव** (धूलि का उठना रोकने वाली), **छिड़काव** और **ओसचटाव** (बहुत ही मामूली वर्षा). चौमासे की पहली वर्षा **डौंगरा** या **दौंगरा** कही जाती है. मघा नक्षत्र की वर्षा **घिग्घी बंधाने वाली** और भूमि को **अघा देने वाली**, पूर्वा नक्षत्र की वर्षा झपटी के कारण फूस के घर के चारों ओर **टट्टी लगाने वाली** और हस्त नक्षत्र की वर्षा गलगल करने वाली या तृप्ति दिलाने वाली कही जाती है. माघ की वर्षा **महावट** या **मौहासों** कही जाती है, फागुन की वर्षा को **चमरबरहा** कहते हैं. जब तपी हुई ज़मीन पर हलकी वर्षा को **छौंका** और खेत की फसल गलने लायक वर्षा को **गलकी** या **गरकिया** कहते हैं.

काफी दिन तक बादल घिरे रहें, तो दिन **दुर्दिन** कहा जाता है. भादों में इसी को **भदवारा** भी कहते हैं. **दुर्दिन** के बाद बदली छंट जाए, तो उसे **उघार, खुलना** या **ऊझना** कहा जाता है. बादल बिलकुल न रहें, तो **निबादर** कहते हैं. ये ही बादल निरंतर बरसे चले जाएं, तो दिन बड़े **मटमैले** हो जाते हैं, रात में उठने वाली घटा बड़ी **डरावनी** हो जाती है, खास करके जब बिजली भी रह-रह कर तड़प उठती हो. पर सुकुमार और पुरुष ये दोनों पक्ष बादल के पौरुष के प्रतीक हैं. वही धरित्री का **कामरूप पुरुष** है. उसके लिए धरित्री की पुकार प्रोषित पति के लिए प्रियतमा की पुकार है. **आना जी बादल ज़रूर.**

(हिंदी की शब्द-सम्पदा, राजकमल प्रकाशन, से साभार)

किताबें

धर्मपुर लॉज

प्रज्ञा

लोकभारती प्रकाशन

मूल्य– 200

अस्सी के दशक में एक न्यायिक आदेश से दिल्ली की कपड़ा मिलों को बंद कर दिया गया था. हजारों मजदूर बेरोजगार होकर विस्थापित हो गये. उन्होंने मुआवजे और अपनी जिंदगी को फिर से पटरी पर लाने के लिए एक लंबी लड़ाई लड़ी. मजदूर यूनियन ने भी सड़क से न्यायालय तक संघर्ष किया. यह उपन्यास शोधपरक यथार्थ तथा कल्पना की जमीन मजबूती से पकड़े हुए हैं.

बाबाओं के देश में

कैलाश मंडलेकर

बोधि प्रकाशन, जयपुर

मूल्य-400

विगत तीन दशकों से व्यंग्य लेखन में सक्रिय लेखक के अड़तालीस व्यंग्य लेखों का यह संग्रह नियमित रूप से अखबार में लिखे उनके स्तंभ लेखों का संकलन है. इनकी भाषा सहज और प्रभावी है जिसमें देशज शब्दों के प्रयोग से कतई परहेज नहीं किया गया है. लेख गुदगुदाते अवश्य हैं पर ये मनोरंजन से अधिक परिहास करते हैं. लेखक के आधुनिकताबोध और उनकी सहज दृष्टि को भी व्यंग्यों में स्पष्ट देखा जा सकता है.
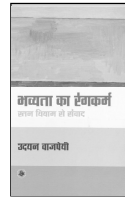
भव्यता का रंगकर्म

उदयन वाजपेयी

राजकमल प्रकाशन

मूल्य– 315

रतन थियाम आधुनिक भारतीय रंगमंच में एक अनूठी उपस्थिति रहे हैं. उन्होंने मणिपुर की लोक-परम्परा, व्यापक भारतीय परम्परा और आधुनिकता के बीच बहुत सघन-उत्कट और रंग प्रभावी रिश्ता अपने रंगकर्म में खोजा-पाया है. उनसे इस लम्बी बातचीत में उनके रंग-जीवन, संघर्ष, तनावों आदि के साथ-साथ व्यापक भारतीय रंगमंच के द्वंद्वों और संघर्षों को समझने की दृष्टि मिलती है.
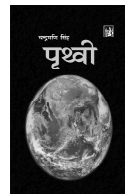
पृथ्वी

चंद्रमणि सिंह

राजकमल प्रकाशन

मूल्य– 675

अगले 25 से 35 करोड़ वर्षों में धरती महाद्वीप का रूप ले सकती है जैसा कि अतीत में एक से अधिक बार हो चुका है. अगले चार अरब वर्षों में सूर्य की चमक क्रमबद्ध ढंग से बढ़ेगी जिसका अर्थ है कि पृथ्वी को अधिक ऊर्जा मिलेगी जिसके कारण सिलिकेट खनिजों का कालाधारित क्षरण अधिक होगा. धीरे-धीरे वनस्पतियों का लोप होगा और प्राणिजगत के अस्तित्व पर संकट आ जायेगा. पुस्तक इस विषयों पर तथ्यात्मक जानकारी देती है.

पूर्णमिदम

सरोज कौशिक

राजकमल प्रकाशन

मूल्य– 266

यह उपन्यास स्त्री-जीवन के साथ-साथ स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में एक नयी दृष्टि देता है. स्त्री यहां पूर्णतः एक जिजीविषा का स्वरूप ग्रहण कर अपने आत्म की खोज-यात्रा में जीवन और मूल्यों के नये-नये सोपान चढ़ती चली जाती है. ब्राह्मण होते हुए वह दलित युवक वीरेश्वर से प्रेम करती है. इसी रिश्ते से जन्मी उनकी बेटी प्रज्ञा पुनः समाज की रूढ़ियों और स्वयं उनके लिए एक मानक बनकर सामने आती है.

साबुन के बुलबुले

सी.वी. बॉयज

अनुवाद : प्रेम सागर

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

मूल्य– 32

यह वैज्ञानिक साहित्य की एक प्रतिष्ठित पुस्तक है. इसमें विभिन्न आकारों तथा मापों के बुलबुलों के निर्माण प्रक्रिया के प्रदर्शन के साथ भौतिक विज्ञान के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर चर्चा की गयी है. यहां बाइबल तथा बालगीतों तक का उद्धरण दिया गया है. विज्ञान की समझ न रखने वाला आम पाठक भी पुस्तक द्वारा मानव और मानवीय वातावरण के अध्ययन में विज्ञान की भूमिका को समझ सकता है.
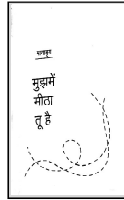
मुझमें मीठा तू है

मायामृग

बोधि प्रकाशन

जयपुर-302006

मूल्य– 150

इन कविताओं में जीवन और सोच के बंधनों से मुक्ति का एक आकर्षक और सार्थक संघर्ष सहज ही दिख जाता है. कविताएं पढ़ते-पढ़ते वे राहें सहज लगने लगती हैं, जिन्हें किसी अज्ञात के डर से कभी छोड़ दिया जाता है. मजे की बात यह है कि इन कविताओं के माध्यम से मज़े-मज़े में कई गुत्थियां सुलझ जाती हैं. अच्छी कविता का एक नमूना हैं ये कविताएं.
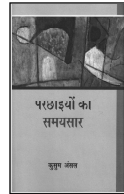
परछाइयों का समयसार

कुसुम अंसल

सामयिक प्रकाशन

मूल्य– 188

यह एक मध्यमवर्गीय युवती की जीवनगाथा है जो अपनी शैक्षणिक योग्यता के आधार पर आगे बढ़ना चाहती है. वैवाहिक जीवन के सुखों के बीच जब एक आकस्मिक दुर्घटना के कारण उसका जीवन दुखमय हो जाता है. तब वह अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई किस प्रकार आगे बढ़ती है, उपन्यास को पढ़कर जाना जा सकता है. सेवा भावना, साधना और कर्तव्य परायणता की शक्ति उसकी सबसे बड़ी ताकत बन जाती है.

भवन समाचार

योगासन कक्षा का आयोजन

हैदराबाद केंद्र ने बशीरबाग, किंग कोटि रोड स्थित अपने परिसर में नियमित योगासन कक्षाओं का आयोजन जानेमाने योग प्रशिक्षक श्री एस.वी. राव की देखरेख में किया. केंद्र के उपाध्यक्ष और कोषाध्यक्ष श्री एस. गोपालराव ने भी एक सत्र का उद्घाटन किया. कक्षाएं प्रात:काल दो सत्र में आयोजित की गयीं.

३५वां वार्षिक समारोह

भवन के विद्याश्रम **गुंटूर केंद्र** ने अपना ३५वां वार्षिक समारोह आयोजित किया. बच्चों ने विभिन्न क्षेत्रों जैसे– शास्त्रीय नृत्य, पाश्चात्य नृत्य, और विभिन्न राज्यों की संस्कृति आदि में अपनी प्रतिभाओं का प्रदर्शन किया. मुख्य अतिथि श्री अद्दानिकी श्रीधर बाबू ने बताया कि कैसे मूल्य और संस्कार भविष्य में बेहतर नागरिक बनने में सहायक होते हैं. उन्होंने विद्यालय के उन कार्यों की सराहना की जो इस दिशा में बेहतर प्रयास कर रहे हैं.

साइंस ओलंपियाड में जीत

भवन विद्यालय **चंडीगढ़ केंद्र** के कक्षा छह के छात्र समर्थ सैनी ने आईएसएफओ द्वारा आयोजित प्रतिष्ठित अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान ओलंपियाड में प्रथम स्थान प्राप्त करके स्कूल को गौरवान्वित किया.

भवन विद्यालय की उदारता

भवन विद्यालय, **चंडीगढ़ केंद्र** ने कोरोना वायरस महामारी से निपटने के लिए प्रधानमंत्री राहत कोष में सात लाख रुपए का योगदान दिया. यह महत्वपूर्ण प्रयास स्कूल के स्टाफ सदस्यों और प्रबंधन के योगदान के माध्यम से संभव हुआ. स्कूल के सभी शिक्षकों और लिपिक कर्मचारियों ने फंड के लिए अपने डेढ़ दिनों के वेतन का योगदान दिया. प्रबंधन ने एक समान राशि का योगदान दिया. ट्राइसिटी के अन्य स्कूलों के सहयोग से रोजाना ५०० लोगों के लिए विद्यालय ने भोजन की व्यवस्था की.

वार्षिक दिवस २०२०

विशाखापट्टनम केंद्र के विद्यालय ने अपना २६वां वार्षिकोत्सव 'एक्सपीरिआ' नाम से मनाया. इसका आयोजन वीएमआरडीए चिल्ड्रन्स अरीना, श्रीपुरम, विशाखापट्टनम में किया गया था. कार्यक्रम में शामिल थे– मुख्य अतिथि श्री द्रोनमराजू श्रीनिवास राव (अध्यक्ष, वीएमआरडीए), श्री ए. प्रसन्नकुमार (विद्यालय के प्रवक्ता और नीति अध्ययन केंद्र के निदेशक) श्री टी.एस.आर. प्रसाद (सचिव), श्री डी.एस. वर्मा (विद्यालय के कोषाध्यक्ष) श्री के.वी. गुप्ता और श्री ए.एस.एन. प्रसाद और विद्यालय समिति के सदस्य. राष्ट्रीय विज्ञान दिवस को याद करते हुए कार्यक्रम में 'दैनिक जीवन में विज्ञान' पर कई विषयगत प्रस्तुतियां की गयीं. अतिथियों द्वारा विद्यालय की पत्रिका 'ब्लूमिंग बड्स' का विमोचन भी किया गया. मुख्य अतिथि तथा अन्य गणमान्य जनों द्वारा शिक्षा, कला और खेल के क्षेत्र में बेहतर प्रदर्शन के लिए विद्यार्थियों को पुरस्कृत किया गया.

ऑनलाइन कक्षाओं की शुरुआत

चंडीगढ़ केंद्र कोविड-१९ से उत्पन्न अनिश्चितता के बीच और शैक्षणिक संस्थानों द्वारा विद्यालय फिर से शुरू करने की अटकलों के बीच, भवन विद्यालय ने अपने वरिष्ठ छात्रों के लिए ऑनलाइन कक्षाओं की शुरुआत की. स्कूल के कर्मचारियों द्वारा ऑनलाइन

प्लेटफॉर्म और वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग के माध्यम से कक्षा ६ से १२ के छात्रों को सक्रिय रूप से जोड़ा गया. इन मंचों द्वारा कक्षा के लिए नयी समय-सारिणी निर्धारित की गयी. छात्रों और अभिभावकों, दोनों को इस माध्यम से काम करने के लिए प्रेरित किया गया. रचनात्मक, चिंतनपूर्ण कार्य जैसे कार्यपत्रक और असाइनमेंट कक्षा समूहों पर अपलोड किये गये. शिक्षकों द्वारा वीडियो कॉन्फ्रेंस के माध्यम से पाठ पढ़ाया गया. कर्मचारियों व सदस्यों को संबोधित करते हुए वरिष्ठ प्राचार्या श्रीमती विनीता अरोड़ा ने ऑनलाइन मंच पर कहा कि विद्यार्थी सक्रिय रूप से लगे हुए हैं और इससे यह सुनिश्चित हो गया है कि हमारा अकादमिक कैलेंडर पटरी पर है. ये कठिन समय है, लेकिन मुझे खुशी है कि हम सभी अपने छात्रों को व्यस्त रखने में अपना योगदान दे रहे हैं.

संकाय विनिमय कार्यक्रम

भवन के प्रियंवद बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट के तीन प्रोफेसर प्रो. गोवर्धन एन, प्रो. सुधाकर कुलकर्णी और प्रो. अनुषा थंगराज अमेरिका के नॉर्थ डकोटा स्टेट यूनिवर्सिटी में प्रबंधन विज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर फैकल्टी एक्सचेंज प्रोग्राम में ढाई महीने की अवधि के लिए गये हैं.

राष्ट्रीय संस्कृत सेमिनार

भवन के **पुथुकुडी केंद्र** द्वारा मद्रास संस्कृत कॉलेज के सहयोग से वेद, वेदांग और दर्शन पर राष्ट्रीय संस्कृत सेमिनार का आयोजन किया गया. डॉ. डी.पी. राधाकृष्णन (प्राचार्य, मद्रास संस्कृत कॉलेज) डॉ. श्री हरिहरन (निदेशक, डिजिटल परिसर, मद्रास संस्कृत कॉलेज) श्री एस. मुरली (सहायक प्रोफेसर, ज्योतिष, मद्रास संस्कृत कॉलेज) ने वेद और वेदांग पर अपने-अपने व्याख्यान दिये.

डॉ. मणि द्रविड़ शास्त्री (प्रमुख, मीमांसा-विभाग, मद्रास संस्कृत कॉलेज) ने सत्र की अध्यक्षता की जिसमें डॉ. पी.पी. श्रीधर उपाध्याय (योजना निदेशक, मद्रास संस्कृत कॉलेज) डॉ. बी. रामकृष्णन (सहायक प्रोफेसर, अद्वैत वेदांत मद्रास संस्कृत कॉलेज) डॉ. श्रीनिवास (प्रोफेसर, कुप्पूस्वामी शास्त्री अनुसंधान संस्थान और सेवानिवृत्त प्राचार्य विवेकानंद कॉलेज चेन्नई) और डॉ. के.एस. महेश्वरन (प्रमुख, वेदांत-विभाग, मद्रास संस्कृत कॉलेज) ने अपने विचार प्रस्तुत किये. दूसरे दिन डॉ. बाल सुब्रमण्यम (उपनिदेशक, कुप्पुस्वामी शास्त्री अनुसंधान संस्थान, चेन्नई) डॉ. के. श्यामसुंदर (सहायक प्रोफेसर, व्याकरण, मद्रास संस्कृत कॉलेज) प्रो. सुंदर बालाकृष्णन (प्रोफेसर, ज्योतिष शास्त्र, मुंबई) श्री वी. रामचंद्रन (सहायक प्रोफेसर, श्री चंद्रशेखरेंद्र सरस्वती विश्व महाविद्यालय, इनाथुर, कांचीपुर) ने दर्शन, ज्योतिष और संस्कृत पर अपने व्याख्यान दिये. डॉ. उमा माहेश्वरी शंकर (प्रमुख, दर्शन-विभाग, एसआईएस कॉलेज, मुंबई) श्री अभिनव कदंबी (संस्कृत अध्यापक, कृष्णमचार्य हीलिंग एंड योगा फाउंडेशन, चेन्नई) ने सत्र को संबोधित किया.

प्रस्तावना श्री गिरीश कुमार एल. (चेयरमैन, श्रीपुरम तंत्र अनुसंधान केंद्र, किंजल कुंदा त्रिशूल) और डॉ. श्रीनिवासन दुरईस्वामी (टेक्नोलॉजी प्रमुख, न्यू प्लेटफार्म और उपाध्यक्ष रिलायंस इंडस्ट्रीज लिमिटेड, नयी मुंबई) ने रखी.
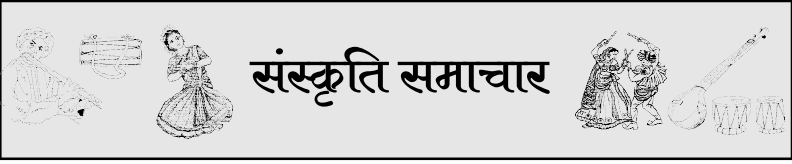
लॉकडाउन में 54 दिनों में 32 प्रतियोगिताओं का आयोजन

हिंदी प्रचार के लिए प्रतिबद्ध मातृभाषा उन्नयन संस्थान, इंदौर द्वारा मातृभाषा सृजन एवं हिंदीग्राम के माध्यम से लॉकडाउन एक, दो और तीन के चौवन दिनों में बत्तीस प्रतियोगिताएं ऑनलाइन हुईं एवं साहित्यकारों को प्रमाणपत्र भी दिये.

इन प्रतियोगिताओं में ऑनलाइन कवि सम्मेलन, बाल कविताएं लेखन, पत्र लेखन, डिजिटल समूह चर्चा, कहानी/लघुकथा लेखन, एक युद्ध कोरोना के विरुद्ध-वीडियो, हिंदी प्रचार काव्य सृजन, कोरोना के विरुद्ध ऑनलाइन संकल्प, आलेख लेखन-अपनी भाषा हिंदी, हिंदी प्रचार काव्य प्रतियोगिता, ऑनलाइन पुस्तक चर्चा/ समीक्षा लेखन, मेरे प्रिय मंचीय कवि/ कवयित्री, आलेख लेखन- मेरा संस्थान:मातृभाषा उन्नयन संस्थान, लेख प्रतियोगिता-मेरे प्रेरणास्रोत, समाचार लेखन प्रतियोगिता, आदर्श वाक्य लेखन प्रतियोगिता, यात्रा वृतांत लेखन प्रतियोगिता, मैं मजदूर हूं– काव्य लेखन, बालसागर चित्रकला एवं काव्य लेखन प्रतियोगिता, बाल कविता लेखन, आलेख लेखन : बुद्ध की शिक्षाएं, संस्मरण लेखन, महाराणा प्रताप जीवन दर्शन लेखन, वात्सल्य रस कविता लेखन प्रतियोगिता, परिचर्चा : भारत कैसे बनेगा महाशक्ति, हास्य काव्य (प्रहसन) लेखन, व्यंग्य लेखन, विचार संगोष्ठी : भारत कैसे बनेगा आत्मनिर्भर ?, लोरी लेखन, गीत लेखन प्रतियोगिता, अनुभव लेख, विज्ञापन लेखन जैसी प्रतियोगिताएं आयोजित कर संस्थान द्वारा साहित्यकारों को अवसाद से बचने में सहायता की.

संस्थान के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. अर्पण जैन 'अविचल', राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष शिखा जैन, राष्ट्रीय कार्यकारिणी सदस्य भावना शर्मा, राष्ट्रीय उपाध्यक्ष नीना जोशी ने मिलकर देश के विभिन्न प्रांतों से जुड़े साहित्यकारों को सम्मिलित करके उन सभी के मनोबल को बढ़ाते हुए ऑनलाइन प्रमाण-पत्र भी प्रदान किये.

कोरोनाकाल में संस्थान का उद्देश्य यही रहा कि साहित्य और सृजन से जुड़े लोग अवसाद की गिरफ़्त में न आ पाये और स्वस्थ्य रहकर कार्य करें. लॉकडाउन चार में संस्थान पुन: कोविड-19 से सुरक्षा, अर्थव्यवस्था आदि विषयों को सम्मिलित करते हुए से डिजिटल परिचर्चा, व्याख्या आदि करेंगे.

सआदत हसन मंटो पर एकदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय वेबिनार सम्पन्न

रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय, मुम्बई के हिंदी विभाग द्वारा सआदत हसन मंटो की कहानियों के पाठ पर केंद्रित 'एक दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय वेबिनार' का आयोजन किया गया. इसमें कुल ग्यारह कहानियां पढ़ी गयीं. जिसमें लंदन से शिखा वार्ष्णेय, जापान से वेदप्रकाश सिंह, मुंबई से सतीश पांडेय, शैलेश सिंह, उषा मिश्रा, मिथिलेश शर्मा, सत्यवती चौबे, प्रवीण चंद्र बिष्ट, साक्षी शर्मा, दिल्ली से सरिता माली, उत्तराखंड से नेहा जोशी शामिल थे. संचालन प्रवीण चंद्र बिष्ट ने किया. उपस्थित अतिथियों का स्वागत महाविद्यालय के उप-प्राचार्य मनीष हाटे जी ने किया. मंटो की रचना प्रक्रिया के संबंध में उनके साहित्य की अध्येता वसुधा सहस्त्रबुद्धे ने उपस्थित श्रोताओं का ज्ञानवर्धन किया. इस वेबिनार में भारत के एक दर्जन से अधिक राज्यों से प्रतिभागी शामिल हुए थे. अनिल सिंह, योगेश मिश्र व मनोज मिश्र ने भी अपना मत प्रकट किया.

लाइव सांस्कृतिक संध्या का आयोजन

नेशनल राइटर्स एंड कल्चरल फोरम द्वारा सोशल मीडिया के सभी माध्यमों पर प्रतिदिन लाइव सांस्कृतिक संध्या आयोजित की गयी, जिसमें देश-विदेश के साहित्यकार, कवि व कलाकारों ने अपनी प्रस्तुति दी. उन्हें प्रतिदिन सम्मानित भी किया गया. इसका निर्देशन संस्था के संस्थापक कुंवर अनुराग द्वारा किया गया.

फेसबुक पर लाइव कार्यक्रम

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद द्वारा ब्रज प्रांत स्तर पर राष्ट्रीय कला मंच द्वारा फेसबुक पर लाइव कार्यक्रम कराए जा रहे हैं. इससे करीब 15 जिलों को जोड़ा गया. कवयित्री निशिराज ने ब्रज के सांस्कृतिक महत्व को बताया. ब्रज प्रांत अध्यक्ष अमित अग्रवाल ने बताया कि जनपद स्तर पर भी कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे हैं.

काव्य गोष्ठी का आयोजन

अखिल भारतीय साहित्यिक संस्था 'आगमन' के तत्वावधान में काव्य गोष्ठी का आयोजन 'आगमन' की आगरा इकाई के उपाध्यक्ष सर्वज्ञ शेखर ने किया. इसके लिए उन्होंने अपने वाट्सएप पर आगमन और स्वरांजलि समूह के सदस्यों से कविताओं का ऑडियो मंगा लिया व निर्धारित तिथि व समय पर गोष्ठी के लिए बनाये गये अलग समूह में कार्यक्रम सम्पन्न कराया. इसमें 30 कवियों ने भाग लिया. इसका बाकायदा संचालन किया गया, प्रारंभ में सरस्वती वंदना, स्वागत गान, मुख्य अतिथि का भाषण, धन्यवाद ज्ञापन आदि की पूरी प्रकिया हुई जैसे मंच पर होती है.

बोधकथा

संकल्प-शक्ति

परिवर्तन होता नहीं, करना पड़ता है. इस करने की पहली शर्त है परिवर्तन के लिए संकल्प-शक्ति को जगाना. उदाहरण के लिए आदत को छोड़ने की बात करें. हमारे भीतर त्याग की छोड़ने की क्षमता है. हम आदत भी छोड़ सकते हैं. इसकी शक्ति है हम में. पर इस शक्ति को जगाना पड़ता है, यह काम संकल्प करता है.

यह माना जाता है कि सारी सृष्टि संकल्प से पैदा हुई है. संकल्प का बड़ा मूल्य होता है. संकल्प होने पर यह अवधारणा मज़बूत बन जाती है कि मुझे यह करना है. या तो मैं यह करूंगा या मरूंगा, इतना दृढ़ संकल्प पैदा हो जाता है तो असम्भव लगने वाली बात सम्भव बनने लग जाती है, अघटित घटनाएं घटने लगती है. परिवर्तन हो जाता है. परिवर्तन का अगला चरण मनोबल है. मनोबल से हर संकल्प आचरण में बदल जाता है.

– आचार्य महाप्रज्ञ

Printed and Published by P.V. Sankarankutty on behalf of Bharatiya Vidya Bhavan, printed at Maoolee Prints & Arts, Gala No. 9/A, Ground Floor, Byculla Service Industrial Estate, D.K. Cross Road, Byculla (East), Mumbai - 400 027 and published for Bharatiya Vidya Bhavan, Plot No. 33/35, Gr. + 4 Floor, K.M. Munshi Marg, Chowpatty, Mumbai - 400 007. **Editor : Vishwanath Sachdev**

Total Page 148 Date of Publication : 23rd of every previous month
RNI. : MAHHIN/2015/62469 Registration No. : MCW/330/2018-20
Posted on Mumbai Patrika Channel Sorting Office, Mumbai - 400001
on 27th and 28th of every previous month.